अमृता प्रीतम

एक खाली जगह

२१, दयानन्द मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-११०००२

क्रम

एक खाली जगह

खामोशी की लकीर पर पांव रखकर आज फिर मुक्ता के लिए दिलीप राय के घर से शादी का पैगाम आया···

तीन महीने पहले भी आया था···

यह पैगाम जैसे एक स्थूल चीज हो और रात के अंधेरे में न जाने घर के खुले हुए दरवाजे से भीतर आई हो, या सबकी आंख बचाकर खिड़की के रास्ते। पर उस रात मुक्ता को लगा जैसे उसकी चारपाई की पट्टी को पकड़कर वह धीरे से चारपाई के ऊपर आ गई हो, और मुक्ता की बांह से लगकर वह सारी रात चारपाई पर सोती रही हो···

नींद में करवट बदलते समय भी मुक्ता को आभास होता रहा, जैसे वह अभी उसकी दाईं तरफ थी, और अभी बाईं तरफ हो गई—जिधर उसने करवट बदली···

बहुत नरम, हिलती हुई, और जीवित चीज···

उस दिन सवेरे मुक्ता रोज की तरह सहज तौर से नहीं जागी—आंख खुली तो उसका अपना हाथ पास की खाली जगह को टटोल-सा रहा था···

और फिर वह चौंककर चारपाई से उठी थी, और उठकर भी खाली चारपाई को देखे जा रही थी, जैसे वह चीज अगर इस समय चारपाई पर नहीं थी तो कहां थी···

एक खाली जगह

खामोशी की लकीर पर पांव रखकर आज फिर मुक्ता के लिए दिलीप राय के घर से शादी का पैगाम आया…

तीन महीने पहले भी आया था…

यह पैगाम जैसे एक स्थूल चीज हो और रात के अंधेरे में न जाने घर के खुले हुए दरवाजे से भीतर आई हो, या सबकी आंख बचाकर खिड़की के रास्ते। पर उस रात मुक्ता को लगा जैसे उसकी चारपाई की पट्टी को पकड़कर वह धीरे से चारपाई के ऊपर आ गई हो, और मुक्ता की बांह से लगकर वह सारी रात चारपाई पर सोती रही हो…

नींद में करवट बदलते समय भी मुक्ता को आभास होता रहा, जैसे वह अभी उसकी दाईं तरफ थी, और अभी बाईं तरफ हो गई—जिधर उसने करवट बदली…

बहुत नरम, हिलती हुई, और जीवित चीज़…

उस दिन सवेरे मुक्ता रोज़ की तरह सहज तौर से नहीं जागी—आंख खुली तो उसका अपना हाथ पास की खाली जगह को टटोल-सा रहा था…

और फिर वह चौंककर चारपाई से उठी थी, और उठकर भी खाली चारपाई को देखे जा रही थी, जैसे वह चीज़ अगर इस समय चारपाई पर नहीं थी तो कहां थी…

बिखरे हुए मन को वह शीशे के सामने खड़े होकर देखने लगी, पर खड़े-खड़े शीशे में जैसे वह खुद मढ़ी गई···

और शीशे में मढ़े हुए उसके होंठ तीन महीने से खामोश थे···

यह खामोशी की एक लकीर थी—जो मोतियाखान की घनी और तंग आबादी की एक गुमनाम-सी गली में रहने वाली मुक्ता के घर से लेकर दिल्ली के एक खूबसूरत टुकड़े पंचशील पार्क के दिलीप राय के घर तक खिची हुई थी···

और उसी खामोशी की लकीर पर पांव रखकर आज फिर मुक्ता के लिए दिलीप राय के घर से शादी का पैगाम आया था···

निम्न मध्य श्रेणी के घरों की एक खास गन्ध होती है—चारपाइयों के नीचे घुसाकर रखे हुए ट्रंकों और टीन के डिब्बों की तरह हर समय घर में छिपकर बैठी हुई भी और खूंटियों पर लटकते हुए मैले-घिसे कपड़ों और राम, कृष्ण या हनुमान के कैलेण्डरों की तरह घर की दीवारों पर जमकर निःशंक खड़ी हुई भी···

मुक्ता जानती थी कि उसने जब भी इस घर की गंध से उभरना चाहा था, यह गन्ध बहुत तीक्ष्ण हो गई थी—गाढ़ी, इतनी कि मुक्ता को इसमें से बाहर निकलने का कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था। उसने कॉलेज की पढ़ाई की थी, पर वह उसे इस गन्ध से बाहर नहीं निकाल सकी थी। यह केवल समय के साथ ज़रा-सा अपनी जगह से सरकता हुआ उसके मां-बाप का दृष्टिकोण था, एक मजबूरी थी, कि पढ़ाई का एकाध टुकड़ा अब उनकी श्रेणी वाले लोगों में भी लड़कियों के दहेज का हिस्सा हो गया था।

और गत वर्ष मुक्ता ने एक चेतन प्रयत्न किया था। जब शहर की सबसे सुन्दर लड़की का चुनाव होना था तो उसने अपना नाम आवेदन-पत्र पर लिखा था, और फिर अपने कद को और कमर को नापकर जब बाकी विवरण को उसपर भर रही थी—कद पांच फुट छः इंच, कमर बाईस इंच, छाती बत्तीस इंच, तो घर की गन्ध एक आंधी की तरह

सारे घर में तेज चलने लगी थी, और आवेदन-पत्र पर लिखा हुआ मुक्ता का नाम अपनी लकीरों में ही कांपकर रह गया था···

घर की सब चीजें, जब से वह देख रही थी, स्थिर थीं—घर की ईंटें भी, जो उसके पिता के पिता ने चिनवाई थीं; मां के कमरे में छोटे शीशों वाला पलंग भी, जो मां की सास के दहेज में आया था; और चौके की गड़े पड़ी गागर और वह चू रही कटलोई भी, जिसपर घर के एक पुरखा का नाम खुदा हुआ था—चन्दासिंह ।

और मुक्ता जानती थी—कि उसकी मां का जल्दी से लड़की के हाथ पीले करने का वह सपना भी स्थिर था, जो कभी उसने अपनी मां से विरसे में पाया था···

केवल चीजें ही नहीं—घर की वह गिनती भी स्थिर थी, जो घर की हर बेटी के घर से जाने के समय, और हर बहू के घर आने के अवसर पर पूरी होती है—दहेज के पांच गहने और ग्यारह सूट, लड़के की अंगूठी और घड़ी, समधिन का रेशमी सूट और सोने की माला, समधी का गर्म दुशाला और इक्यावन रुपये, इक्कीस रुपये बड़े भाई के, ग्यारह छोटे के···

बैठी उंगलियों पर हिसाब लगाती मां के मुंह से यह गिनती मुक्ता ने इतनी बार सुनी थी कि यह गिनती भी एक स्थिर वस्तु की तरह उसे घर में पड़ी हुई जंतरी के समान दिखाई देने लगी थी···

निरी जंतरी ही नहीं, मुक्ता को लगता, यह घर की हर लड़की की जन्मपत्री है···

और वह सोचती—यह एक वर्तमान है, जो एक पीढ़ी से रेंगता-रेंगता दूसरी पीढ़ी तक पहुंच जाता है और हमेशा स्थिर दिखाई देता है···

यह स्थिरता, मुक्ता को विश्वास है, इसी तरह रहनी थी, पर अचानक, जो इस घर के सपनों से परे था, वह घट गया, और यह स्थिरता कहीं भीतर से हिल गई···जो अभी भी हिल रही है, जैसे भूकम्प के बड़े

झटके के बाद फिर कई बार छोटे-छोटे झटके आते रहते हैं…

उसका पहला झटका था कि मुक्ता के पिता कितने ही समय त अपने कानों को टटोलकर देखते रहे थे, विश्वास नहीं बंधता था कि यह पैगाम उन्होंने अपने कानों से सुना है…

मुक्ता के पिता शहर के एक उस पुराने वकील के मुन्शी थे, जिसका सबसे बड़ा और सबसे अमीर मुवक्किल दिलीप राय का पिता था, जिसकी बहुत बड़ी ज़मींदारी थी, और जिसके झगड़ों को निबटाने के लिए वकील की बंधी हुई तनख्वाह होती थी, और इसके अलावा, जब दिलीप राय के पिता ने एक्सपोर्ट का काम शुरू किया तो फॉरेन एक्स-पोर्ट के मामले में उनका वकील रिज़र्व बैंक से काम निकालने के लिए बम्बई जाया करता था…और उसके लिए हर बार हवाई जहाज़ का टिकट लाते समय उसके मुन्शी की आंखों के आगे मुवक्किल की अमीरी एक अचम्भे की तरह फैल जाया करती थी…और अब जब उसी घर से उसकी अपनी बेटी के लिए शादी का पैगाम आया, तो वह सचमुच चकरा गया…

मोतियाखान जैसे इलाके की एक गुमनाम-सी गली के इस घर में वास्तव में एक भूकम्प आ गया…पैगाम आया, तो मुक्ता की मां ईंटों के दरज़ वाले फर्श पर एक बार इस तरह फिसल पड़ने को हुई, जैसे वह सफेद सीमेण्ट का अभी-अभी टाटरी से धोया और वैक्स से पा किया हुआ फर्श हो…

यह भूकम्प मुक्ता के मन में भी आया, पर उस तरह नहीं मां के या पिता के मन में आया था…

२

अभी पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ था…जब मुक्ता ने दिलीप राय का घर देखा था। एक संयोग था—जब दिलीप राय की रिश्ते में बहन लगने वाली एक लड़की कुसुम मुक्ता के कॉलेज अपनी किसी पुरानी सहेली से मिलने के लिए आई थी, और दोनों की परिचित उस लड़की ने उसकी मुक्ता से भेंट कराई थी, उसी दिन कोई एक घण्टे के लिए वे तीनों दिलीप राय के घर गई थीं…

अमलतास के पीले गुच्छों में और गुलमोहर के लाल फूलों से घिरे हुए मकान की एक झलक-सी आज भी मुक्ता को याद हो आई तो मन में से एक सुगन्ध-सी आने लगी…पर इस तरह, जैसे यह सुगन्ध उसके लिए वर्जित हो…

उस दिन उसने कुछ मिनट के लिए दिलीप राय को भी देखा था, उसकी पत्नी को भी, और उसके लगभग एक वर्ष के बच्चे को भी…

वह सब कुछ खूबसूरत था—पर जब दूर था तो बेगाना था, सहज था। अब—जब वह सब कुछ सरककर उसके पास आ रहा था, उसके हाथों तक, और उसके शरीर से गुज़रकर उसके मन तक, कुछ भी सहज नहीं हो रहा था…

वह जो पूर्ण था—साबत, सालिम, उसमें से मृत्यु ने एक टुकड़ा तोड़ लिया था, दिलीप राय की पत्नी को, और अब उसी बाकी

को भरना था—मुक्ता से।

शादी का यह पैगाम, मुक्ता को लग रहा था, जैसे एक खाली जगह का पैगाम हो···

एक मर्द के मन का नहीं, केवल घर में खाली हुई एक जगह का···

उस घर में एक औरत आई थी—दिलीप राय की मां नहीं, कोई और औरत, कह रही थी—'वह तो व्याह की बात ही नहीं सुनता था, जैसे वैराग धारण कर लिया हो···बड़ी मुश्किल से मां ने मनाया है···'

और यह, मुक्ता को लगा, मर्द के मन का नहीं, घर में खाली हो गई एक जगह का तकाज़ा है···

एक गड्ढे को भरने की तरह···

एक मोघले को बंद करने की तरह···

एक दरार को लीपने की तरह···

'पर मैं क्यों···मेरी जगह कोई भी हो सकती थी···कोई भी···'और मुक्ता के मन में आया—'वह जिधर नज़र करता, कुछ भी उसके लिए हाज़िर हो जाता···कुछ भी उसकी पहुंच के बाहर नहीं है···फिर सिर्फ मैं क्यों?'

और मुक्ता के मन में एक गर्म लकीर-सी खिच गई—'उसने मुझे एक बार देखा है···शायद कुछ वही उसके मन में अटक गया हो··· शायद···'

और शायद की कच्ची-सी आस को पकड़ते हुए मुक्ता उस जगह की ओर देखने लगती, जहां अभी अंधेरा था, और जहां से अभी कोई पहचान नहीं उठ रही थी···

३

कॉलेज वाली सहेली आई, एक खबर की तरह, और हंसती रही—'सो तू शहर की सबसे सुन्दर लड़की चुनी गई···मिस दिल्ली···'

मुक्ता का हाथ अंधेरे में किसी चीज़ से टकराया, शायद एक सहारे से, एक हौसले से पूछना चाहा—'मेरा ख्याल किसे आया, मां को या खुद उसे···या सिर्फ उसे, जो रिश्ते में उसकी बहन लगती है ? 'पर मुक्ता पूछ न सकी, हाथ अंधेरे में मूर्च्छित-सा हो गया···

और फिर अंधेरा और गाढ़ा हो गया···

वही औरत एक बार फिर आई, और मुक्ता की मां के पास बैठकर मुक्ता के भाग्य को सराहते हुए कहने लगी, "एक तो इसके नसीब जाग जाएंगे, और दूसरे उस बिलखते हुए बच्चे के, जिसकी मां भगवान ने छीन ली···"

और जब मां शब्द मुक्ता के कुंआरे अंगों से टकराया, उसके सब अंग घबराकर उसकी ओर देखने लगे···

लगा—उसके पैरों के नीचे उसकी अपनी कोई धरती नहीं है··· कभी नहीं होगी ···उसे सदा उस धरती पर खड़े होना पड़ेगा, जो किसी और के पैरों के लिए थी···

पत्नी कोई और थी, उसे सिर्फ उसकी जगह पर बैठना है···

मां कोई और थी, उसे सिर्फ उसकी जगह खड़ा होना है···

अंधेरा शायद बहुत गाढ़ा होकर ठोस दीवार के समान हो गया
उसने दीवार से सिर को टिकाया तो विचार भी अंगों की तरह निढा
से हो गए, 'किसीकी जगह पर खड़ी हुई मैं जब नज़र आऊंगी—
अजनबी, तब वह बच्चा जोर से रो पड़ेगा, उसका बाप भी…शा
ज़ोर से नहीं, धीरे से, मन में…'

और मुक्ता को लगने लगा—वह एक कब्र पर बैठे हुए कब्र के
जैसी हो जाएगी…

शादी के आए हुए पैगाम को 'हां' करनी थी, पर मुक्ता से हां
हुई, होंठ भिच गए, पिता के आदेश के आगे भी, मां की मिन्नत के अ
भी…

और मुक्ता के होंठों पर जमी हुई खामोशी एक लकीर बनकर व
तक फैल गई, जहां से शादी का पैगाम आया था…

४

तीन महीने वीत गए···

पर खामोशी की लकीर पर पांव रखकर आज फिर वह पैगाम आया, शायद मुक्ता के विचारों को टटोलता हुआ, और यह कहता हुआ कि वच्चा दीदी के पास रहेगा, पंजाव में, यहां दिल्ली में नहीं।

मां ने मुक्ता पर गुस्सा करके उसकी खामोशी को तोड़ देना चाहा, खामोशी छिल-सी गई, मां के शब्दों से खुरच-सी गई, लेकिन टूटी नहीं···

मुक्ता के अपने मन में उसकी जीभ जैसे कट गई हो, वह वोल नहीं पा रही थी···

लगा—कभी नहीं वोला जाएगा, 'हां' कहने के लिए भी नहीं, 'नहीं' कहने के लिए भी नहीं···

जानती थी—दुनिया की कोई औरत नहीं होती, जो एक वार अपने अस्तित्व के पूरे ज़ोर से एक मर्द को आवाज़ देना न चाहती हो··· 'मैं भी चाहती हूं' वह सोचती, पर देखती—आवाज़ भीतर कहीं, गले से भी नीचे, अटककर खड़ी हो गई है।

'शायद कभी होंठों पर नहीं आएगी'—वह मन में दिलीप राय को कल्पना कर देखने लगी, अपना वनाकर, मन के ज़ोर से भी, कानून के ज़ोर से भी, पर जहां जो कुछ पराया था, वह उसी तरह ···

अंधेरा शायद बहुत गाढ़ा होकर ठोस दीवार के समान हो गया। उसने दीवार से सिर को टिकाया तो विचार भी अंगों की तरह निढाल-से हो गए, 'किसीकी जगह पर खड़ी हुई मैं जब नज़र आऊंगी—एक अजनबी, तब वह बच्चा जोर से रो पड़ेगा, उसका बाप भी…शायद ज़ोर से नहीं, धीरे से, मन में…'

और मुक्ता को लगने लगा—वह एक कब्र पर बैठे हुए कब्र के प्रेत जैसी हो जाएगी…

शादी के आए हुए पैगाम को 'हां' करनी थी, पर मुक्ता से हां न हुई, होंठ भिच गए, पिता के आदेश के आगे भी, मां की मिन्नत के आगे भी…

और मुक्ता के होंठों पर जमी हुई खामोशी एक लकीर बनकर वहां तक फैल गई, जहां से शादी का पैगाम आया था…

४

तीन महीने बीत गए···

पर खामोशी की लकीर पर पांव रखकर आज फिर वह पैगाम आया, शायद मुक्ता के विचारों को टटोलता हुआ, और यह कहता हुआ कि बच्चा दीदी के पास रहेगा, पंजाब में, यहां दिल्ली में नहीं।

मां ने मुक्ता पर गुस्सा करके उसकी खामोशी को तोड़ देना चाहा, खामोशी छिल-सी गई, मां के शब्दों से खुरच-सी गई, लेकिन टूटी नहीं···

मुक्ता के अपने मन में उसकी जीभ जैसे कट गई हो, वह बोल नहीं पा रही थी···

लगा—कभी नहीं बोला जाएगा, 'हां' कहने के लिए भी नहीं, 'नहीं' कहने के लिए भी नहीं···

जानती थी—दुनिया की कोई औरत नहीं होती, जो एक बार अपने अस्तित्व के पूरे ज़ोर से एक मर्द को आवाज़ देना न चाहती हो··· 'मैं भी चाहती हूं' वह सोचती, पर देखती—आवाज़ भीतर कहीं, गले से भी नीचे, अटककर खड़ी हो गई है।

'शायद कभी होंठों पर नहीं आएगी'—वह मन में दिलीप राय को कल्पना कर देखने लगी, अपना बनाकर, मन के ज़ोर से भी, कानून के ज़ोर से भी, पर जहां जो कुछ पराया था, वह उसी तरह रहा···पराया

भी और वर्जित भी···

और मुक्ता को लगा—कभी कुछ भी अपना नहीं होगा···न किसी रस्म के ज़ोर से, न कभी बरसों के ज़ोर से···

जहां तक भी मुक्ता देखती, दूर तक दिखाई देता—दिलीप राय जिस हैसियत का है, अगर कभी उसे ज़िंदगी का पहला चुनाव करना होता तो वह मुक्ता नहीं हो सकती थी···रास्ते में बहुत कुछ आ जाता—मोतियाखान की तंग गली, एक बेचारा-सा, सिर झुकाकर खड़ा हुआ मकान···मुन्शी पिता की अपनी हड्डियों के समान गुच्छा-सी हैसियत···और···और···

मुक्ता के लिए यह 'और' बहुत इधर थी, और दिलीप राय का अस्तित्व बहुत परे था···

अनेक 'और' उसके पास आकर खड़े हो गए, तो मुक्ता को लगा—जैसे वह और कुछ नहीं, सिर्फ किसी मरने वाली की कब्र पर डाली जाने वाली मिट्टी की आखिरी मुट्ठी है···

आख़िरी मिट्टी एक कब्र की लाश को ढकने का आखिरी जतन होता है, मुक्ता ने एक दार्शनिक की भांति सोचा, पर साथ ही उसे लगा—जैसे मिट्टी में रींगता हुआ एक कीड़ा उसके शरीर पर चढ़ रहा हो···उसके नंगे मांस को टटोलता, सूंघता और उसके लहू में से एक घूंट पीकर उसके मांस के साथ खेलता हुआ···

५

मुक्ता ने चौंककर अपनी ओर देखा—हे ईश्वर ! क्या मेरे मन ने मुझसे भी चोरी उससे इतना प्यार कर लिया है कि मैं उन बरसों को सह नहीं पा रही हूं जब वह मेरा नहीं था, किसी और का था…किसी और का मर्द…किसी और के बच्चे का बाप…

और मुक्ता ने अपना होंठ दांतों से काट लिया—हे ईश्वर ! क्या मरी हुई औरत का अस्तित्व भी मुझसे सहा नहीं जा रहा है ?

और उसे लगा—जैसे इन सब महीनों की खामोशी और कुछ नहीं थी, सिर्फ एक गिला थी, उससे जो उसका था, सिर्फ उसका, और जिसने उससे मिलने से पहले उसके साथ बेवफाई की थी…

मन एक लम्बी गुफा बन गया और उसमें से गुज़रती हुई मुक्ता को शादी का पैगाम देने वाला दिलीप कभी इतना अपना लगता रहा, जैसे होंठों की सांस से भी ज़्यादा नज़दीक हो, और कभी इतना पराया कि आंखों की पहचान से भी परे हो…

आज फिर एक रात आई, जब यह पैगाम फिर एक बार जीती-जागती चीज़ की तरह उसे कमरे में आता हुआ लगा, और फिर उसकी चारपाई पर आकर उसकी बांह से लगकर उसके पास सोता रहा…बहुत कोमल, सजीव और छोटी-छोटी सांस लेता हुआ…

सवेरे तड़के जैसे ही आंख खुली, मुक्ता को लगा—बहुत दिनों

भी और वर्जित भी···

और मुक्ता को लगा—कभी कुछ भी अपना नहीं होगा···न किसी रस्म के ज़ोर से, न कभी बरसों के ज़ोर से···

जहां तक भी मुक्ता देखती, दूर तक दिखाई देता—दिलीप राय जिस हैसियत का है, अगर कभी उसे ज़िंदगी का पहला चुनाव करना होता तो वह मुक्ता नहीं हो सकती थी···रास्ते में बहुत कुछ आ जाता—मोतियाखान की तंग गली, एक बेचारा-सा, सिर झुकाकर खड़ा हुआ मकान···मुन्शी पिता की अपनी हड्डियों के समान गुच्छा-सी हैसियत··· और···और···

मुक्ता के लिए यह 'और' बहुत इधर थी, और दिलीप राय का अस्तित्व बहुत परे था···

अनेक 'और' उसके पास आकर खड़े हो गए, तो मुक्ता को लगा—जैसे वह और कुछ नहीं, सिर्फ किसी मरने वाली की कब्र पर डाली जाने वाली मिट्टी की आखिरी मुट्ठी है···

आखिरी मिट्टी एक कब्र की लाश को ढकने का आखिरी ज़तन होता है, मुक्ता ने एक दार्शनिक की भांति सोचा, पर साथ ही उसे लगा—जैसे मिट्टी में रींगता हुआ एक कीड़ा उसके शरीर पर चढ़ रहा हो···उसके नंगे मांस को टटोलता, सूंघता और उसके लहू में से एक घूंट पीकर उसके मांस के साथ खेलता हुआ···

५

मुक्ता ने चौंककर अपनी ओर देखा—हे ईश्वर ! क्या मेरे मन ने मुझसे भी चोरी उससे इतना प्यार कर लिया है कि मैं उन बरसों को सह नहीं पा रही हूं जब वह मेरा नहीं था, किसी और का था…किसी और का मर्द…किसी और के बच्चे का बाप…

और मुक्ता ने अपना होंठ दांतों से काट लिया—हे ईश्वर ! क्या मरी हुई औरत का अस्तित्व भी मुझसे सहा नहीं जा रहा है ?

और उसे लगा—जैसे इन सब महीनों की खामोशी और कुछ नहीं थी, सिर्फ एक गिला थी, उससे जो उसका था, सिर्फ उसका, और जिसने उससे मिलने से पहले उसके साथ बेवफाई की थी…

मन एक लम्बी गुफा बन गया और उसमें से गुज़रती हुई मुक्ता को शादी का पैगाम देने वाला दिलीप कभी इतना अपना लगता रहा, जैसे होंठों की सांस से भी ज़्यादा नज़दीक हो, और कभी इतना पराया कि आंखों की पहचान से भी परे हो…

आज फिर एक रात आई, जब यह पैगाम फिर एक [illegible] जीती-जागती चीज़ की तरह उसे कमरे में आता हुआ लगा, और फिर उसकी चारपाई पर आकर उसकी बांह से लगकर उसके पास सोता रहा—बहुत कोमल, सजीव और छोटी-छोटी सांस लेता हुआ…

सवेरे तड़के जैसे ही आंख खुली, मुक्ता को लगा—बहुत [illegible]

बाद आज का दिन शांत है—शायद उसने दिलीप के बीते हुए वर्षों को भी स्वीकार कर लिया है, और उसके बच्चे को भी···

'बच्चा दीदी के पास रहेगा···पंजाब में···यहां दिल्ली में नहीं···' मुक्ता चारपाई पर से उठकर अन्दर अपने कमरे की ओर जाने लगी तो ये शब्द उसके पैरों में चुभ गए···ये शायद कल से वहीं बाहर आंगन के फर्श पर पड़े हुए थे···

लगा—जैसे पांवों से लहू बहने लगा हो···

आश्चर्य भी हुआ कि एक ही शब्द एक ही समय में सर्वथा विपरीत अर्थ कैसे रखते हैं ?—यही शब्द थे, कल इन्हें सुना था तो मन को कुछ सुख देते हुए-से लगे थे, झूठमूठ के 'मां' शब्द से उसे मुक्त करते हुए-से, और दिलीप के बीते हुए वर्षों की गवाही को हर समय देखने की विवशता से स्वतन्त्र करते हुए-से···पर कल और आज के बीच कुछ घटित नहीं हुआ था, फिर भी ये शब्द आज शीशे की किरचों की तरह, किसी और को नहीं, उसके अपने ही मांस को छीलने लगे थे···

"मां हिपोक्रिट (बगुलाभगत) है···शायद सारी मध्य श्रेणी हिपोक्रिट होती है···" मुक्ता के होंठों पर हंसी-सी आ गई। याद आ रहा था—कल मां ने ये शब्द सुने थे तो त्राहि-त्राहि कर उठी थी, जैसे बच्चे को घर से दूर भेजकर बच्चे पर जुल्म किया जा रहा हो···पर वह औरत चली गई तो उन्हीं होंठों से मां ने एक सुख की सांस ली, कहने लगी, "चलो, यह भी अच्छा हुआ···सौतेले बच्चे पालने कोई आसान होते हैं ? जान के जंजाल होते हैं··· "

और मुक्ता को अपने प्रति एक तरह के सन्तोष का अनुभव हुआ—'मैं कुछ भी हूं, लेकिन मां जैसी नहीं हूं। जो कुछ मन में है, वही होंठों पर रखकर देख रही हूं···मेरा कल का चैन भी सच था—और आज की बेचैनी भी सच है···'

'हां' और 'नहीं', जैसे सचमुच दो इलाके हों—शायद एक-दूसरे के दुश्मन इलाके, और मुक्ता दोनों सीमाओं के बीच की खाली जगह पर

खड़ी रही हो···

पता था—बहुत देर तक इस जगह पर खड़े नहीं रहा जा सकता, पर पैर किसी भी तरफ नहीं उठ रहे थे···

यह 'हां' या 'नहीं' कह सकने वाली स्वतन्त्रता की विवशता थी···

और इस जगह खड़े हुए मुक्ता को एक बार मां पर रश्क हो आया—जिसकी आंखों में अमीरी की ऐसी चकाचौंध है कि वही सच है और उसके सिवा जो कुछ भी अंधेरे में है, वह सच नहीं है···

'यह सुख सिर्फ एकपक्षीय विचार की गुलामी का सुख होता है··· जहां सब कुछ इकहरा होता है—रिश्ते का अर्थ भी इकहरा और इन्सान के अस्तित्व का अर्थ भी इकहरा···' और ऐसा सोचते हुए मुक्ता को लगा कि कुछ भी हो, मां से रश्क करने का सुख मुझे नहीं चाहिए··· मेरी पहचान मेरी पीड़ा में है···

यह भी लगा कि किसीसे कोई रिश्ता जब बाहरी चीज़ों के सहारे खड़ा होता है—जैसे मज़हब के सहारे से या दौलत के सहारे से, या बने-बनाए और कतरे-ब्योंते कानून के सहारे से—उसे कभी मन की पीड़ा का वरदान नहीं मिलता। गुलामी का सुख मिलता है, पर स्वतन्त्रता की पीड़ा नहीं मिलती। वह सिर्फ तभी मिलती है, जब वह रिश्ता मन का होता है···और किसी भी सहारे के बिना खड़े होना चाहता है··· सिर्फ अपने अस्तित्व के बल पर···

और अपने अस्तित्व की पीड़ा को पहचानते हुए मुक्ता अभी भी रास्ते की पहचान नहीं कर पा रही थी कि एक भयानक दुर्घटना घट गई—दिलीप राय के बच्चे की डिप्थीरिया से एक ही दिन में मृत्यु हो गई···

मृत्यु के भयानक वार ने मुक्ता की खामोशी को तोड़ दिया, और उसने तड़पकर 'हां' कर दी, जैसे एक हारे हुए इलाके को अब उसकी बहुत आवश्यकता हो···

६

शादी का पैगाम, कुछ सिर झुकाकर, सोग के दिनों से गुज़रता रहा…मातम के कुछ दिन बीत गए तो उस पैगाम की मांग हुई—रस्म हो, लेकिन बहुत साधारण-सी, कोई चहल-पहल न हो।

वैसा ही हुआ—सिर्फ मुक्ता की मां ने कुछ रस्में जो अन्दर बैठकर की जा सकती थीं, वे चुपके से कर लीं, और मुक्ता जब हवन की अग्नि के पास से उठकर सवेरे के पहले पहर में दिलीप राय के साथ उसके घर आई, कुछ थोड़ी-सी रस्में, जो अन्दर बैठकर की जा सकती थीं, दिलीप की मां ने कर लीं।

एक छोटी-सी रस्म थी—जो मुक्ता की रिश्ते में ननद लगने वाली लड़की ने अपने कोई एक बरस के बच्चे को मुक्ता की गोद में बिठाकर की, जिसके साथ दो-तीन औरतें वह परम्परागत गीत गाने लगीं, जो ऐसे अवसर पर नववधू से वंश को बढ़ाने की आशा से गाया जाता है…

मुक्ता के सिर का पल्ला ज़रा नीचा-सा था, पर परम्परागत घूंघट जैसा नहीं था, उसने सिर झुकाकर गोद में पड़े हुए बच्चे को देखा—तो उसकी आंखें एक खौफ से फैल गईं…

लगा—किसीने अचानक एक मरा हुआ बच्चा उसकी गोद में डाल दिया है…

गोद का बच्चा टुकर-टुकर देख रहा था—परन्तु निश्चल था।

नये हाथ के स्पर्श से भी विचल नहीं हो रहा था…शायद मुक्ता की बांहों में पड़ी हुई लाल रंग की हाथीदांत की चूड़ियों को नये खिलौने की तरह देख रहा था…

दो-तीन औरतें वह गीत गा रही थीं, पर भरी हुई आवाज़ से… गीत के सारे अक्षर टूटे हुए पंखों की तरह हवा में हिलते रहे…

दिलीप राय की मां इस शुभ अवसर पर कोई अपशकुन नहीं करना चाहती थी, इसलिए आंखों का पानी आंखों में ही लौटा लिया—पर इस समय, पिछले दिनों हुई बच्चे की मौत, फिर जैसे ताजा होकर सबकी आंखों के आगे आ गई…

एक हसरत भी कि आज के दिन उसी बच्चे को मुक्ता की गोद में डालना था…

मुक्ता ने, औरों की तरह, उस बच्चे की मौत नहीं देखी थी, पर इस समय सबसे ज़्यादा उसे ही लगा—जैसे वही मरा हुआ बच्चा इस समय उसकी गोद में हो…

और उसे लगा—एक लाश है, जो शायद हमेशा उसकी गोद में पड़ी रहेगी…

७

पूरी रात की थकान थी, उनीदापन भी। दिलीप राय चाय का एक प्याला पीकर अपने कमरे में चले गए थे और बड़े कमरे में सिर्फ मुक्ता थी, या व्याह के इस दिन के लिए आई हुई कुछ मेहमान-रिश्तेदार औरतें। कोई रस्म करते समय जब मुक्ता की गोद में डाले हुए बच्चे को उठा लिया गया तो मुक्ता ने थकी-थकी आंखों से एक बार कुसुम की ओर देखा। सिर्फ कुसुम थी, जिसे मुक्ता इस घर में कुछ पहचानती थी। उसीने आज नये रिश्ते के सबसे पहले संबोधन से मुक्ता को बुलाया था—'भाभी' कहकर।

कुसुम ने दिलीप राय की मां की ओर देखा, कहा, "चाची ! भाभी के लिए सारी रात का जागरण रहा होगा..." मां ने मुक्ता को बड़े कमरे के सोफे से उठाते हुए कुसुम से कहा, "दिलीप के बराबर वाला कमरा खाली है। जा, भाभी को वहां ले जा, घड़ी-दो घड़ी आराम कर लेगी..."

कुसुम एक पल के लिए शायद किसी सोच में उतर गई, फिर कहने लगी, "भाभी ! एक मिनट...मैं कमरा ठीक कर आऊं।"

बाकी कमरों में मेहमान थे। कुसुम ने जाकर देखा, सिर्फ वही कमरा था, जिसमें किसी मेहमान को नहीं ठहराया गया था। कुसुम कमरे में गई और उल्टे पैरों वापस आकर मुक्ता को उस कमरे में ले गई।

कुसुम ने कमरे में कुछ फल रखवाए, चाय रखवाई और फिर कमरे का दरवाज़ा भेड़कर जब चली गई तो मुक्ता, जो कमरे में अकेली रह गई थी, खिड़की से पीछे के बगीचे की ओर देखने लगी।

बिलकुल बराबर वाले कमरे में दिलीप राय थे···बहुत पास···पर पूरी एक दीवार की दूरी।

कुसुम ने ही उस कमरे के आगे से गुज़रते हुए बताया था, "भाभी! आपका असल कमरा यह है···" और हंसते हुए मुक्ता के कान के पास मुंह करके कहा था, "पर रात को असल कमरा बनेगा···"

कमरा बगीचे से बिलकुल सटा हुआ होने के कारण बड़ी ताज़ा हवा से भरा हुआ था। हवा में हलकी-सी महक थी। मुक्ता ने बराबर के कमरे में सोए हुए दिलीप राय के अहसास को सांसों में महसूस करना चाहा, पर लगा—वह अहसास अभी अजनबी है, सांसों में महसूस नहीं हो रहा है—शायद बगीचे की हवा से भी ज़्यादा अजनबी।

और मुक्ता, थकी हुई, कमरे के पलंग पर बैठने ही लगी थी कि अचानक ख़याल आया—कुसुम अकेली एक मिनट के लिए इस कमरे में आई थी, मां ने कहा था, 'कमरा तैयार है', वह फिर भी अकेली आई थी!

और मुक्ता ने कमरे की चारों दीवारों की ओर देखा और फिर उठकर कमरे की अलमारी खोली।

अलमारी खाली थी—सिर्फ एक तस्वीर थी, शीशे में जड़ी हुई, जो एक खाने में उलटी पड़ी हुई थी।

लगा—जो खयाल आया था, ठीक था। कुसुम को ज़रूर पता रहा होगा कि यह कमरा उस बच्चे का होता था।

कुसुम के मन की यह कोमल-सी जगह जैसे मुक्ता के हाथों को स्पर्श कर गई···उसने कांपते हुए हाथों से वह तस्वीर उठाई—देखा, बच्चे की तस्वीर थी, और जाना कि यह ज़रूर दीवार पर लगी रही होगी, जिसे अभी कुछ मिनट पहले ही कुसुम ने उतारकर अलमारी में रखा है।

मुक्ता ने फिर कमरे की दीवारों की ओर देखा। एक ओर एक उभरी हुई लकड़ी की पट्टी थी, जिसपर लगी हुई कील बड़ी अकेली-सी, खाली-सी खड़ी हुई थी।

मुक्ता ने आह जैसी एक सांस ली और बांह ऊंची करके उस तस्वीर को फिर उस कील पर टांग दिया।

खिड़की से आने वाली हवा में नये पत्तों की महक थी, पर अचानक मुक्ता को लगा, जैसे बहुत दिनों के झड़े हुए गलते हुए पत्तों की गंध भी हवा में हो।

पलंग पर लेटकर मुक्ता ने थककर आंखें मूंद लीं।

नींद की ऊंघ में मुक्ता को लगा कि कुछ आवाज़ें हैं, जो न जाने कहां से उसके कानों में आ रही हैं।

"यह लड़की तो पहली को भी मात करती है⋯शी इज़ रीअल ब्यूटी⋯मैं तभी तो सोच रही थी, न घर न घराना, यह बात कैसे बनी⋯लड़की तो अच्छी है, पर पैर अच्छे होने चाहिए⋯उधर बात चली, इधर लड़का जाता रहा⋯"

मुक्ता चौंककर उठ गई⋯घबराकर दीवारों की ओर देखा, फिर खिड़की की ओर⋯बाहर पेड़ों की ओर⋯जहां इस समय बगीचे में घर आए मेहमान थे।

लगा—यह सब कुछ जो हवा में है, हवा में ही ठहरा रहेगा—शायद यहां, इस मिट्टी में उगकर पेड़ों की भांति फैल जाएगा।

जो भी बातें हवा में थीं, मुक्ता ने पत्तों की सांय-सांय की तरह सुनीं, पर कोई भी उदासी कानों को ऊपरी नहीं लग रही थी, जैसे ये आवाज़ें उसने पहले भी सुन रखी हों⋯अपने भीतर से⋯

घर में मौत की एक गंध थी, पर वह स्वाभाविक थी। मुक्ता को लगा—जो उससे भी बढ़कर है, वह कुछ और है, शायद घर में नहीं,

उसके अपने अन्तर में है···

एक भय-सा आया—'सिर्फ मैं नहीं, शायद दिलीप राय भी उस गंध को जानते हैं···और शायद···शायद किसी दिन वह मुझसे बहुत नफरत करने लगें···'

८

रात आई···

यह अक्तूबर का महीना था, खुले मौसम का, पर रात ठंड का एक कम्पन-सा लेकर आई।

कम्पन शायद मौसम का नहीं था, मुक्ता के मन के भय का था, पर वह गर्दन की नसों तक फैल रहा था।

बाहर, एक गर्माहट की और सुख की अनुभूति थी—कमरे के दरवाज़ों और खिड़कियों पर वैलवेट के परदे थे, जिनका रंग दीवारों के रंग के समान गंभीर था, इतना कि उनका अस्तित्व भी दीवारों का भाग प्रतीत होता था। और फर्श पर बस कोई दो बालिश्त ऊंचा एक चौकोर पलंग था, जो फर्श का ही एक उभरा हुआ अंग लगता था। रोशनी सिर्फ एक गोल लैम्प की थी···जो मोटे और सुलगते हुए कोयलों की शक्ल में थी—सुर्ख लाल। और बस—कमरे में और कोई चीज़ नहीं थी।

दिलीप राय की मां जब मुक्ता को अकेले इस कमरे में छोड़कर चली गई, मुक्ता ने दहकते हुए कमरे की गर्माइश को अपने अंगों में अनुभव किया; पर ठंड का जो कम्पन-सा उसकी गर्दन की नसों पर चढ़ रहा था, वह भी उसी तरह उसके अंगों में फैलता रहा।

देखा—कमरे में एक पलंग के सिवाय बैठने के लिए और कोई चीज़ नहीं है।

मुक्ता खड़ी रही।

खयाल आया—हर लड़की व्याह की पहली रात जिस कमरे में दाखिल होती है, कभी उस कमरे का मालिक उसके स्वागत के लिए वहां नहीं होता।

और हर लड़की एक अजनवी कमरे में एक दखल-अंदाजी की तरह पांव रखती है।

और मुक्ता हैरान हुई—यह रिवाज है, पर शायद इसपर कभी किसीने नहीं सोचा, इसलिए इसे कभी नहीं वदला।

कमरे की जलते हुए कोयलों जैसी लाल रोशनी, कमरे में फैली हुई नहीं थीं, वह पलंग के एक ओर कोयलों के ढेर की तरह फर्श पर पड़ी हुई थी, इसलिए मुक्ता कुछ देर तक कमरे के एक कोने में वनी पत्थर की उस छोटी-सी रौंस को नहीं देख सकी; जिसपर एक तस्वीर पड़ी हुई थी। पर उसकी आंखें जव कमरे के अंधेरे से और एक जगह पर गुच्छा होकर पड़ी हुई रोशनी से परिचित हुईं तो उसने किसी किताव की तलाश में इधर-उधर देखा।

अपने-आप उस विस्तर पर वैठना वहुत अजीव लगा, जो अभी तक उसका नहीं था और आज तक किसी और का था।

सोचा—कमरे में पड़ी हुई कोई किताव मिल जाए तो वह फर्श पर रोशनी के पास वैठकर किताव पढ़कर इन्तज़ार का समय विता लेगी।

वही कुछ स्वाभाविक हो सकता था…इस तरह कमरे में खड़े रहना उसके लिए स्वाभाविक नहीं हो रहा था। इसलिए किसी किताव को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते जव वह कमरे को गौर से देखने लगी—एक कोने में वनी हुई पत्थर की उस छोटी-सी रौंस को देखा, जिसपर एक तस्वीर पड़ी हुई थी…

पास गई, देखा—तस्वीर वच्चे की थी, और उसकी मां की…

कमरा नहीं, कमरे में अपना-आप विलकुल अजनवी लगने लगा।

वाहर हवा शायद तेज़ हो गई थी—कमरे की खिड़कियां वन्द

पर दीवारों के साथ लगकर कुछ तेज़-तेज़ सांस लेती लग रही थी।

दरवाज़े के परदे ने भी एक गहरी सांस ली और पैरों तक हिल गया—मुक्ता ने देखा, दिलीप राय कमरे में आए हैं।

मुक्ता, शायद, दिन में देखी हुई मुक्ता से भी इस समय अधिक सुन्दर लग रही थी। दिलीप राय उसकी ओर देखते रह गए, फिर संभले, धीरे से मुस्कराए, और पास को होकर कहने लगे "इसी तरह खड़ी रही ? थक नहीं गई ?"

बिजली के कोयलों में से जैसे एक छोटी-सी चिनगारी उठी, मुक्ता ने कहना चाहा—'कमरे ने बैठने के लिए कहा ही नहीं···' पर वह कह न सकी।

बिजली के कोयले एकसार जलते रहे। मुक्ता भी···

दिलीप राय ने बैठने के लिए, पलंग के पास आकर, मुक्ता के कंधों पर अपनी बांह रखी और पलंग की पट्टी के पास आकर रुक गई मुक्ता से कहा, "मेरी पसन्द पर रश्क आया है या नहीं ?"

मुक्ता के होंठ ज़रा-से मुस्कराए। दिलीप राय का प्रश्न सीधा था, उनके मन से जुड़ा हुआ, पर मुक्ता को लगा, जैसे वह क्या खोया और क्या पाया का कुछ हिसाब-सा लगा रहे हों।

मुंह से निकला, "बहुत उदास हो ?"

ये मुक्ता के पहले शब्द थे, जो दिलीप राय के सामने मुंह से निकले।

वह कुछ चौंक-से गए, "उदास···?"

मुक्ता ने कमरे के उस कोने की ओर देखा, जहां बच्चे की और उसकी मां की तस्वीर थी।

पलंग की पट्टी के पास खड़े दिलीप राय की इस समय उधर पीठ थी, उन्होंने मुक्ता की दृष्टि की दिशा में गर्दन मोड़कर देखा।

फिर चुप-से हो गए। शायद सोच नहीं सके थे कि आज की रात की पहली बात अतीत से जुड़ी हुई होगी।

मुक्ता के भीतर से शीत का एक कम्पन उठकर उसकी उंगलियों के पोरों तक फैल गया...और उसका हाथ, जो ठंडा हो गया था, एक विवशता की-सी दशा में, दिलीप राय के पहलू से छू गया—शायद किसी गर्माहट की खोज करता हुआ।

दिलीप राय ने मुक्ता को पूरी बांह में लेकर अपने से सटा लिया।

आंखें बन्द-सी हो गईं। मुक्ता की भी।

मुक्ता को लगा—जैसे वे दोनों, मौत की ठंड से बचने के प्रयत्न में ज़िन्दा मांस की गर्माहट खोज रहे हों।

बिजली की, कोयलों की शक्ल में बनी हुई, हांड़ियों के स्विच पलंग की पट्टी पर इस तरह लगे हुए थे कि जितने कोयले चाहें, बुझाए जा सकते थे। दिलीप राय ने कुछ स्विच दबाकर केवल एक कोयला जलता रहने दिया, बाकी बुझा दिए।

सचमुच एक ऐसी ठंड थी—जो दोनों के अस्तित्व को किसी जगह अपने में लपेट रही थी, और जिसे केवल एक-दूसरे की आग का सेंक चाहिए था।

रात ऐसे बीती कि मांस के ठंडे हाथ सारी रात मांस की कांगड़ी सेंकते रहे—रात का अन्तिम पहर आया, रात की गर्माइश से भरा हुआ—और बिस्तर की सफेद चादर पर दो शरीर जल-जलकर बुझे हुए-से राख के गर्म ढेरों की तरह पड़े हुए थे।

सवेरे का उजाला शायद चेतन होता है—मुक्ता की आंख खुली तो पलंग के दो सिरे—एक-दूसरे से बहुत दूर लगे, इतने कि उसने घबराकर बांह फैलाई, दिलीप राय की बांह थामने के लिए, पलंग के दूसरे सिरे तक पहुंचने के लिए, पर देखा—दोनों के बीच एक बच्चे की लाश पड़ी हुई है, जिसके ऊपर से बांह नहीं ले जा सकती।

९

दिलीप राय की ज़िन्दगी में मुक्ता पहली औरत नहीं थी, पर मुक्ता की ज़िन्दगी में दिलीप राय पहला मर्द था, और पहले मर्द के साथ बीती पहली रात मुक्ता के लिए भयानकता की सीमा तक सुन्दर थी—एक सम्पूर्ण अस्तित्व की, एक सम्पूर्ण अस्तित्व के लिए जागी हुई प्यास···इतनी कि सवेरे के उजाले में वह दिलीप राय की ओर एकटक देखती रही। लगा—अभी एक घूंट पानी भी उसने होंठों से लगाकर नहीं देखा है और उसके होंठ बहुत प्यासे हैं।

पर दिलीप राय को इससे विपरीत एहसास हुआ—एक उस प्यास की तृप्ति का, जो पहले कभी उन्होंने अनुभव नहीं की थी। औरत को पहले भी शरीर से लगाया था, पर लगा—आज जैसी रात का पहले कभी उन्होंने अपने शरीर से स्पर्श नहीं किया। उन्होंने भी सवेरे के उजाले में मुक्ता को हैरानी से देखा।

पर दोनों ने अपनी हैरानी के अर्थ समझे, दूसरे की हैरानी के नहीं। इसलिए चाय की मेज़ पर एक अजीब खामोशी छा गई। इतनी, कि खामोशी जैसे आंखों से देखी जा सकने वाली चीज़ हो और जिससे घबराकर दोनों ने आंखें परे कर लीं।

दिलीप राय काम पर चले गए। घर के मेहमानों में से तीन रात की गाड़ी से चले गए थे, और एक अभी सवेरे की गाड़ी से। मां अभी

दो दिन और रहने वाली थीं, पर कुसुम आज तीसरे पहर वापस वम्बई जा रही थी। इसलिए मुक्ता अकेली हुई, तो कुसुम उससे छोटे-छोटे मज़ाक करती रही, फिर अचानक गम्भीर होकर कहने लगी, "भाभी ! एक वात की मैं आपसे माफी चाहती हूं···कल मैंने वहुत चाहा था कि घर में लगी हुई कुछ तस्वीरें उतार दूं···चाची मान गई थीं, पर भाई साहव नहीं माने···मैं जानती हूं—एक तस्वीर उनके कमरे में है···रात को···आपकी पहली रात को भी···"

मुक्ता ने आंखें झुका लीं, धीरे से कहा, "मैं जानती हूं—कल तुमने छोटे कमरे से एक तस्वीर उतारकर अलमारी में रख दी थी—पर क्यों ?···मैंने फिर वहीं टांग दी थी।"

दोपहर को मां ने उस अलमारी की चाभी मुक्ता को दी, जिसमें उसके लिए खरीदे हुए कपड़े रखे हुए थे, और वह सूटकेस भी, जो मुक्ता अपने साथ लाई थी। कुसुम उसके साथ सूटकेस के कपड़े अलमारी में रखवाती रही। उसीने वताया, "पहली भाभी के कपड़े भी वहुत वढ़िया थे, वहुत सारे तो भाई साहव फ्रांस से लाए थे···विलकुल नये पड़े हुए हैं···पर चाची ने उनमें से कोई कपड़ा आपकी अलमारी में नहीं रखवाया, इसलिए कि शायद आपको यह वात अच्छी न लगे।"

अचानक मुक्ता को लगा—किसीने धीरे से उसके कंधे पर हाथ रखा है···यह भी महसूस हुआ, यह हाथ कपड़ों के उस वन्द ट्रंक में से निकलकर आया है, जो घर की मां ने न जाने कहां—शायद कुछ ट्रंकों के नीचे—दवाकर रख दिया है।

मुक्ता के हाथ अलमारी में कपड़े रखते हुए ठिठक गए।

हाथ का स्पर्श, कंधे से नीचे को उतरता हुआ, रीढ़ की हड्डी में फैल गया।

मुक्ता ने फटी-फटी आंखों से अलमारी की ओर देखा···यह सोने के कमरे की दूसरी अलमारी थी, उस पहली के नाप की ही, जिसमें से सवेरे दिलीप राय ने अपने कपड़े निकाले थे।

पूछने की आवश्यकता नहीं थी, दिखाई दे रहा था कि यह अलमारी उसीकी थी, जिसके कपड़े इसमें से निकालकर अब किसी ट्रंक में बन्द कर दिए गए थे।

चीज़ों में शायद बरतने वाले का कुछ सदा के लिए समा जाता है—लोहे में भी, लकड़ी में भी, मुक्ता को अलमारी में से एक हलकी-सी गंध आई।

एक लम्बी सांस भरकर देखा, पर जान नहीं सकी कि यह गंध किसीके हाथों की थी, या लकड़ी में समाई हुई किसी इत्र-फुलेल की।

होंठों के पास सोच की एक लकीर-सी खिच गई—अगर लकड़ी और लोहे में कोई गंध समाई रह सकती है तो उस बदन में भी जरूर होगी, जो रोज़ उसे बांहों में लपेटकर रखता था।

पिछली रात को याद में लाकर, मुक्ता ने दिलीप राय के बदन को जैसे फिर छुआ, बांह से लिपटकर एक गहरी सांस भरी, पर कुछ याद नहीं आया।

"शायद शरीर की जलती हुई आग के समय केवल आग की गंध होती है, और किसी चीज़ की नहीं···और शायद और सब कुछ उसमें भस्म हो जाता है।"

मुक्ता के विचार को कुसुम ने तोड़ दिया। पूछ रही थी, "भाभी ! क्या सोच रही है ?"

मुक्ता ने पहली बार जाना—कुछ विचार केवल किसी गंध के समान होते हैं···हाथ से पकड़कर किसीको दिखाए नहीं जा सकते—हर समय होते भी नहीं। मेह बरसने के समय स्वयं ही आ जाते हैं, घरों के कोनों में गुच्छा-से होकर बैठ जाते हैं, और फिर धूप निकलने पर न जाने कहां चले जाते हैं।

"भाई साहब को कच्चे कीमे के कबाब बहुत पसन्द हैं।" एक फिसलने रेशम की साड़ी को तह करते हुए कुसुम ने अचानक कहा।

"कच्चे कीमे के ?" मुक्ता ने चौंककर कुसुम की ओर देखा।

कुसुम बताने लगी, "वह जब बम्बई आते हैं, मैं उन्हें बनाकर खिलाया करती हूं, थोड़ी मेहनत लगती है—पहली भाभी कभी नहीं बनाती थीं।"

"तुम मुझे सिखा दो।" मुक्ता ने कहा, और उसके मन में एक हंसी-सी आ गई। याद आया—मां कई बार कहा करती है कि मर्द का मन जीभ में होता है।

"मैं आपको कागज़ पर सारा तरीका लिख देती हूं, मुश्किल नहीं है, सिर्फ ज़रा मेहनत पड़ती है।"

और कुसुम जब कागज़ पर लहसुन का, बड़ी इलायची का और अंडों की ज़र्दी का हिसाब लिख रही थी, मुक्ता को लगा—जैसे वह एक अधेड़ औरत की तरह किसी सयाने से वशीकरण मंत्र लिखवा रही हो।

कुसुम लिखने के साथ-साथ ज़बानी भी बता रही थी कि कैसे कच्चे कीमे को पहले सिलबट्टे से पीसना होता है, और साथ ही हंस भी रही थी, "पर भाई साहब को तो खाते समय पता ही नहीं लगेगा कि क्या खा रहे हैं। वह तो भाभी! बस, आपको ही देखते रहेंगे···देखा था, सवेरे चाय के समय, वह बस आपको ही देखे जा रहे थे···चाची भी भीतर जाकर हंसती रही थीं।"

मुक्ता को खयाल आया—सवेरे वह भी तो उनकी ओर देखती रही थी··कुसुम ने यह भी देखा होगा, मां ने भी।

और विचार उधर चला गया—जिधर रात को सोने के कमरे के कोने में एक तस्वीर पड़ी हुई थी, और जो सारी रात उसे देखती रही थी···और जिसने सारी रात आंखें नहीं झपकाई थीं।

१०

गले के पास जैसे आवाज़ नहीं थी…

पर बाकी सब अंगों के पास थी, केवल अंगों को सुन पड़ने वाली।

दूसरी रात आई, पर उसे पहली के बाद दूसरी कहना भी जैसे उसका अपमान हो।

दिलीप राय ने महसूस किया—यह रात भी पहली है—नई और कुंआरी।

एक आश्चर्य मन में उठा—क्या हर रात का पहली बार आना संभव है? आगे भी संभव होगा?

समझ में नहीं आ रहा था कि इस कोमल-सी, और रेशम के गुच्छे जैसी लड़की के पास क्या है, जिसके अन्दर उनका शरीर रेशम के कीड़े की तरह लिपटता जा रहा है!

—नहीं, उन्हें लगा—कुछ है, जो वह सब कुछ देने के बाद भी अपने पास रख लेती है, बचा लेती है, और जिसे पाने के लिए, पूर्ण सन्तुष्टि में अलसाया हुआ शरीर फिर उसकी ओर देखता है, उसकी ओर बढ़ता है…

मुक्ता ने इस रात को कुछ जाना, पर दिलीप राय के अर्थों में नहीं, बिलकुल अपने अर्थों में, बड़े निजी अर्थों में—कि रात की ये घड़ियां हवन की आग की तरह जलती हैं और उसमें, जो कुछ भी दिलीप राय

का उससे अलग है, अकेला है, वह सब हवन की सामग्री की तरह भस्म हो जाता है।

और जो 'सच' बाकी रह जाता है, वह केवल आग है…

मुक्ता ने यह भी जाना—कि हर नया दिन उस पाले से ठिठुरता हुआ दिन होगा, जिसमें घर के छोटे-बड़े काम उन छिपटियों-तिनकों को इकट्ठा करने के समान होंगे, जिनके आसरे पर यह रात की आग जलानी होगी…

दिन के पाले से घबराकर…

अपने-अपने अकेलेपन से घबराकर…

और शायद हमेशा…सारी उम्र; क्योंकि आज भी रात के चौथे पहर में मुक्ता को वही अनुभूति हुई कि पलंग के दो सिरे एक-दूसरे से बहुत दूर हैं, इतने कि एक सिरे की ओर सोई हुई मुक्ता का दूसरे सिरे पर सोए हुए दिलीप राय तक हाथ नहीं पहुंच रहा है…

आज इस चौथे पहर के बाद मुक्ता को नींद नहीं आई। अभी झुट-पुटा ही था, जब वह उठी और घर के पीछे बगीचे में चली गई। हर बूटे को, हर टहनी को हाथ से छुआ, जैसे उसे पत्ते-पत्ते की पहचान करनी हो।

और भोर के प्रथम प्रकाश में मुक्ता ने कुछ फूल और पत्तियां तोड़ी, पानी के एक गिलास में उन्हें तरतीब से सजाया, और कमरे में लौट आई। कमरे में—बस, फर्श था, और पलंग, इसलिए फूलों को रखने के लिए केवल एक ही जगह थी, जहां दृष्टि पड़ी—दीवार के कोने वाली पत्थर की वह रौंस, जहां वह तस्वीर पड़ी हुई थी, इसलिए मुक्ता ने वह फूल भी तस्वीर के पास ही रख दिए।

मुक्ता ने जब फूल तोड़े थे, उसे तस्वीर का खयाल नहीं था, पर कमरे में आई तो उस तस्वीर ने जैसे वह फूल मांग लिए…

वह नहीं सोचना चाहती थी, लेकिन फूल तस्वीर के पास रख दिए तो सोचती ही गई—कुछ फूल सिर्फ किसी क़ब्र पर चढ़ाने के लिए उगते हैं…शायद मैं भी…

११

इस समय तक मुक्ता का सारा चिन्तन—सीधा-सा, साधारण, और उस औरत की मृत्यु से जुड़ा हुआ था, जिसकी मृत्यु के वाद उसके मर्द को मुक्ता ने अपना मर्द वना लिया था।

पर जिस समय सवेरे के नाश्ते की चाय मेज़ पर रख दी गई और दिलीप राय अपने कमरे में से काम पर जाने के लिए तैयार होकर आए—तो मुक्ता का सारा चिन्तन जैसे एकाएकी रास्ते से लौट गया…

अचानक उस मोड़ पर आ गया, जहां से एक नया रास्ता भी, न जाने किधर जाने वाला, उसके पांवों के आगे आ गया हो…

आज दिलीप राय ने मुक्ता की ओर देखा था, पर विलकुल उस तरह, जिस तरह चाय के प्याले की तरफ, या उवले हुए अंडों की तरफ।

दृष्टि में क्षण-भर का सम्वन्ध था, इससे अधिक कुछ नहीं…

एक ठण्डी-सी लकीर मुक्ता के कंधों से उतरकर पीठ की हड्डी में फैल गई।

आज कमरे में कुसुम भी नहीं थी, और मां भी नहीं, इसलिए मुक्ता ने कुछ निस्संकोच होकर कई वार दृष्टि भरकर दिलीप राय की ओर देखा—एक तना हुआ शरीर, तराशे हुए नक्श, पर जिस सवसे हर चीज़ एक फासले पर होने का एहसास देती हो।

--पहने हुए कपड़े भी—अंगों के निकट होकर खड़े हुए, लेकिन अंगों के स्पर्श से दूर...

अचानक हाथ में एक कागज़ लिए हुए सेक्रेटरी कमरे में आया—"सर ! यह तार..."

दिलीप राय ने निगाह उठाकर उधर देखा और उधर की आवाज़ परे, और जहां थी, वहीं रुक गई...

"दफ्तर में बैठो," दिलीप राय ने धीमे स्वर में कहा, और केतली में से गर्म चाय प्याले में डाली।

"सर ! ..." एक बार उधर की आवाज़ फिर उभरी, शायद काम के अत्यन्त आवश्यक होने का आग्रह था, या शायद किसी बड़े नुकसान का।

दिलीप राय ने कहा कुछ नहीं, सिर्फ उधर देखा—शायद जो पहले कहा था, वह अभी भी वहीं हवा में ठहरा हुआ था, और वही आगे होकर सेक्रेटरी के हाथों से टकरा गया। वह उन्हीं पैरों पीछे चला गया—बाहर वाले, घर के अन्तिम सिरे पर बने हुए उस कमरे में, जो नेहरू प्लेस वाले दफ्तर का एक छोटा-सा टुकड़ा घर में भी था, दफ्तर के समय से हटकर और अलग...

मुक्ता को लगा—दिलीप राय ने घर के समय का एक टुकड़ा, जैसे अभी उसके सामने, काम के समय से तोड़कर कमरे में रखा है।

रगों में भय की एक हलकी-सी लकीर फिर गई। इसलिए नहीं कि दिलीप राय को घर के एकांत में कामों का दखल पसन्द नहीं था, सिर्फ इसलिए कि समय के इस टुकड़े को, उन्होंने जैसे एक ठण्डे चाकू से चीरकर अलग किया हो...

...एक सामर्थ्य—पर लोहे की धार के समान तीक्ष्ण और ठण्डी...

दिलीप राय उठकर कमरे से जाने लगे तो एक नज़र मुक्ता की ओर देखा, पूछा, "कोई चीज़ चाहिए ?"

मुक्ता के होंठों के पास एक मुस्कराहट उभरी, जैसे 'नहीं' शब्द

उभरा हो…और दिलीप राय जब कमरे से चले गए, मुक्ता को लगा—उनका कमरे में होना और कमरे से जाना भी उनके अधीन है, आज्ञा में बंधा हुआ…

धरती की ग्रैविटी की तरह…

और मुक्ता को पहली बार लगा—एक और राह भी है, जो एक और कब्र की ओर जाती है…न जाने किसकी—न जाने कहां…

पर सवेरे की वह अनुभूति मन में और गहरी उतर गई—कुछ फूल सिर्फ किसी कब्र पर चढ़ने के लिए उगते हैं…शायद मैं भी…

१२

पैर, अचेत-से, सोने के कमरे की ओर मुड़े···

पर वह कमरे के दरवाज़े के पास पहुंचकर ठिठक गई—कमरा जैसे अपना न हो, किसी और का हो···

आंखों में पलंग की पहचान थी, और पलंग के पास पड़े हुए बिजली के बुझे हुए कोयलों की भी, पर कमरे की एक ठण्डी-सी गंध थी—जो अजनबी थी···

मन में बीती हुई रात सुलगी, और उसका सारा सेंक जाना-पहचाना लगा, पर ऐसे, जैसे एक पुरातन घटना हो—वर्तमान से टूटी हुई···

वर्तमान, सिकुड़कर, कमरे की दहलीज़ों में बैठा हुआ लगा, और कमरे के अन्दर की ओर इस तरह झांकता हुआ, जैसे अन्दर सिर्फ इतिहास के खण्डहर हों···

मुक्ता ने इस अचम्भे को पैरों के तलवों तक महसूस किया, लगा—शायद हर रात दिन की लौ का स्पर्श पाते ही इतिहास का खण्डहर बन जाया करेगी, और हर दिन वह वर्तमान होगा, जो कमरे से बाहर होगा···

फर्श का या दीवार का सहारा काफी नहीं था। मुक्ता को एक ऐसा सहारा चाहिए था, जो दहलीज़ में खड़े हुए उसके वर्तमान को भीतर

कमरे में ले जाए, कमरे की हर चीज़ से जोड़ दे, दिलीप राय की अनुपस्थिति से भी…

सहारे का एक तार-सा हाथ में आया—याद आया, ब्याह की रस्म के लिए उसके मां-बाप को अपना घर दिलीप राय के स्वागत के लिए बहुत छोटा लगा था, अपने अस्तित्व पर स्वयं शरमाता-सा, और अपने निम्न मध्यवर्गीय विचार की भांति सहमकर खड़ा हुआ, और उन्होंने घबराकर सन्देश भिजवाया था कि यह रस्म बाहर किसी और स्थान पर की जा सकती है…

घर के एक मित्र ने भी बताया था कि अब आलीशान होटलों में, हवन की अग्नि के लिए भी, किराये के कमरे बन गए हैं…

तब मुक्ता को लगा था—जैसे किसी भी घर की ज़मीन उसके पांवों के नीचे नहीं है…

आंखों के आगे शून्य आ गया था—जो किराये के कमरे से लेकर किराये के रिश्ते तक फैलता दिखाई दे रहा था…

पर उस क्षण मुक्ता के मन को दिलीप राय ने जैसे हाथ देकर बचा लिया था। वापसी सन्देश भेजा था—यह रस्म उसी घर में होगी, बाहर कहीं नहीं।

और विवाह-संस्कार वाली रात को दिलीप राय को जयमाला पहनाते हुए मुक्ता की आंखों में वह स्वागत भी भर आया था, जो केवल उसकी ओर से नहीं था, घर के फर्शों की उखड़ी हुई और दरज़ों वाली ईंटों की ओर से भी था…

आज, इस घड़ी, उस बीती हुई घड़ी का सहारा लेते हुए मुक्ता ने दिलीप राय के कमरे से जुड़ना चाहा—उसके पास जाकर, उसकी आत्मा को हाथों से छूकर…अपना बनाकर…

और वह पांवों पर ज़ोर-सा डालते हुए पलंग के पास आई…

पर पैर, पलंग के पाये में अटक गए—एक खयाल आया, जो पहले नहीं आया था—रात को जिस समय शरीर का शरीर पर अधिकार

होता है, क्या वह अधिकार सचमुच का होता है ?

लगा—दिलीप राय का वजूद उसके लिए पूरी धरती बन जाता है, उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक—जिसके निर्जनों में वह खो जाती है, और जिसकी आबादियों में वह बस जाती है, और वह मीलों पर मील फलांगने पर भी धरती की थाह नहीं पा सकती···हाथ एक अनन्त में भटकते रह जाते हैं···

पर वह, दिलीप राय, कभी भी उसे धरती की तरह नहीं ढूंढते, वह हमेशा एक नपी-तुली चीज़ की तरह उसे अंगों में संभाल लेते हैं, चाहें तो बांहों में समेट लेते हैं, चाहें तो परे एक ओर धर देते हैं···

आंखों में पानी भर आया, लगा—उसका अस्तित्व इतना छोटा है, सीमित, कि आंखों के पानी में भी डूब सकता है···

और मुक्ता को लगा—किसी और की नहीं, उसकी अपनी कब्र है, कहीं बनी हुई, जिसपर चढ़ाए जाने के लिए वह फूल की तरह उगी है···

१३

मां घर में थी तो मुक्ता को रसोई में जाना सहज नहीं लगा था। उसे लगा था, मां सोचेगी कि मैं घर का सब कुछ अपने हाथों में ले रही हूं, बहुत जल्दी, इसलिए जो कुछ जिसके हवाले था, उसी तरह रहने दिया।

वैसे भी, अभी तक उसने दिलीप राय की पसन्द या नापसन्द को नहीं जाना था, सिवाय इसके कि हर दोपहर को और हर शाम स्टीम की हुई सब्ज़ियों की एक डिश ज़रूर बनती थी, जो मां ने कभी नहीं खाई थी, शायद पसन्द नहीं थी, पर वह मेज़ पर ज़रूर परोसी जाती थी, जिससे लगता था कि वह दिलीप राय के खाने का एक ज़रूरी हिस्सा बनी हुई है।

मां कोई बीस दिन बाद वापस पंजाब चली गई तो मुक्ता ने उसी शाम कुसुम का लिखकर दिया हुआ कागज़ निकाला और पहली बार रसोई में गई। उस दिन मुक्ता ने कच्चे कीमे के कबाब बनाए।

संध्या समय, दिलीप राय ने हर रोज़ की तरह अपने लिए स्कॉच ह्विस्की का गिलास बनाया और मुक्ता के लिए गिलास में सेबों का रस डाला तो उस समय मुक्ता ने कुछ झिझकते हुए कबाब की प्लेट मेज़ पर रख दी।

घर में यह उसका पहला प्रयत्न था, इसलिए यह झिझक कुछ और

ही तरह की थी, और इससे बचने के लिए उसने सेबों के रस वाले गिलास को हाथ में लेकर एक घूंट भरा भी, पर गिलास को होंठों से हटाया नहीं,—शायद चेहरे को थोड़ी-सी ओट की आवश्यकता थी, भले ही वह गिलास की गोलाई के तीन इंच की ओट ही क्यों न हो…

"अच्छा…" दिलीप राय ने कबाब के स्वाद को पहचानते हुए धीरे से कहा और फिर एक नज़र मुक्ता की ओर देखा।

मुक्ता का कुछ मुस्करा देना स्वाभाविक ही था, पर अपने होंठों में सिमटती हुई-सी यह मुस्कराहट भी मुक्ता को स्वाभाविक नहीं लगी। लगा—कबाब की प्लेट का तो पता नहीं, पर उसने अपने होंठों की मुस्कराहट एक रिश्वत की तरह दी है…

मुक्ता की आंखें—शर्मिन्दा-सी—नीचे फर्श की ओर देखने लगीं…

फ़र्श के सफ़ेद सीमेण्ट में मिले हुए पत्थर के छोटे और काले टुकड़े आंखों के आगे रेंगने लगे…

मन में एक सहम-सा आया—यह रिश्वत, जो आज होंठों पर एक मुस्कराहट बनकर आई है, कभी शब्द बनकर भी आ सकती है…और मुक्ता को किसी से नहीं, अपने होंठों से एक भय-सा आ गया…

पर इस भय में से एक और अलग प्रकार का भय उभरा—नहीं, दिलीप राय के सामने उसके होंठ शब्दों की रिश्वत नहीं दे सकेंगे, वह केवल घबराकर, किसी दिन, किसी भी घड़ी, सिसक उठेंगे…और घर की हवा में उस गुनाह की स्वीकृति फैल जाएगी, जो अभी केवल उसके मन में दबा हुआ है…

एक संकोच था, मुक्ता की आंखें ऊपर नहीं उठ रही थीं। दिलीप राय ने संकोच को समझा, पर संकोच की भयानकता को नहीं। कहा, "मिस दिल्ली के हाथों के बने कबाब भी मिलेंगे, यह नहीं सोचा था…"

मन के सेंक से होंठ भी पिघले, और दिलीप राय ने निकट आकर मुक्ता के होंठों को छुआ…

महक ह्विस्की की भी थी, भुने हुए कबाब की भी, और दिलीप

"फार्म भरा जाता, तो आखिर यह फैसला भी किसी आदमी ने ही करना था न…"

"हां, जो कोई भी जज होता…"

"कोई जज या ज्यूरी—पर वह मैं भी हो सकता हूं…क्या यह काफी नहीं ?"

मुक्ता ने पूरे मन से मुस्कराना चाहा, लगा—अगर यह अर्थ केवल इतने ही हैं, सीधे और सीमित, तो उसके लिए इनका अखबारों के बाहर रह जाना उससे भी अधिक गम्भीर है, जितना कि अखबारों के अन्दर आ जाने से होता…यह खबर सिर्फ कुछ दिनों के लिए होती, और यह जो अखबारों के बाहर है, उम्र-भर के लिए हो सकती है…

पर मुक्ता चाहकर भी मुस्करा न सकी, लगा—इन्सान के मन को, अखबार की तरह, साधारण आंखों से नहीं पढ़ा जा सकता…

"कल इतवार है, मिस दिल्ली ने, मेरा खयाल है, पूरी दिल्ली नहीं देखी होगी। सवेरे, बहुत तड़के, दूर तक जाया जा सकता है,…एक लांग ड्राइव…" दिलीप राय ने कहा तो मुक्ता का मन सहज हो गया।

यह आज पहला दिन था, जब दिलीप राय ने मुक्ता को अपने साथ कहीं चलने के लिए कहा था। वह पिछले दिनों में तीन बार घर के बाहर गई थी, अपने माता-पिता से मिलने के लिए, तो तीनों बार घर का ड्राइवर उसे सवेरे के समय गाड़ी में ले गया था, संध्या समय ले आया था। दिलीप राय न वहां उसके साथ गए थे, न और कहीं साथ चलने के लिए उससे कहा था। इसका कारण मुक्ता ने अपने मन में ही खोज लिया था—कि घर की दुर्घटनाओं के बाद यही स्वाभाविक हो सकता था। आज उन्होंने, सवेरे एक लांग ड्राइव के लिए कहा तो मुक्ता को लगा—जैसे वह दुर्घटनाओं की सीमा को पार करके [illegible] उसकी ओर आ रहे हों…

१४

सवेरे बहुत तड़के उठना था, दिलीप राय ने चाय की थरमस और पनीर, बिस्कुट जैसी कुछ चीज़ें साथ रखने के लिए कहा था, इसलिए मुक्ता की रात के पिछले पहर में आंख खुल गई तो फिर नींद नहीं आई।

यह रात के पिछले पहर का जाग उठना मुक्ता के मन पर ठण्डी ओस की तरह गिरने लगा—क्या वह सचमुच दुर्घटनाओं की सीमा को पार करके, कुछ इधर उसकी ओर आ रहे हैं, या उसका हाथ पकड़कर उसे भी परे दुर्घटनाओं की सीमा के अन्दर ले जा रहे हैं ?

लगा—शायद इसी तरह वह 'उस' के साथ एक लम्बी ड्राइव पर जाया करते होंगे…इसी तरह चाय की थरमस उसके साथ रहा करती होगी…

मुक्ता ने चौंककर अपने हाथों की ओर देखा—विश्वास नहीं हुआ कि इन नये हाथों से क्या सचमुच उनके पुराने दिनों को थामा जा सकेगा ?

कांपते हुए हाथों से मुक्ता ने अलमारी के निकट जाकर अलमारी को खोला और वह चाभी निकाली, जो मां ने जाते समय दी थी और कहा था—'यह पहली के ट्रंक की चाभी है। तेरा जी करे तो खोलकर चीज़ें निकालकर वरत लेना, जी करे तो किसीको दे देना…' और मुक्ता

ने दबे पांव स्टोर में जाकर वह ट्रंक खोला, जिसमें पहली के कपड़े रख-कर वह ट्रंक बंद कर दिया था···

कई साड़ियां मुक्ता ने हाथों में उठाईं, फिर रख दीं, यह नहीं पता चल रहा था, नये हाथों से पुराने दिनों को पकड़ने के लिए किन धागों का सहारा लिया जा सकता है···

एक साड़ी आंखों को अलग-सी लगी—रंग-बिरंगी पतली लकीरों के जाल में लिपटी हुई। खयाल आया—शायद यह वही हो, जो कुसुम ने बताया था कि वह फ्रांस से लाए थे।

मुक्ता ने ट्रंक को बन्द करते हुए वह साड़ी बाहर रख ली, और गुसलखाने में नहाने के लिए चली गई। और नहाकर उस साड़ी को पहनते हुए उसे अजीब-सा एहसास हुआ—जैसे वह कपड़े नहीं, जन्म बदल रही हो···

अभी अंधेरा था, जब गाड़ी में चाय और बाकी चीज़ें रखवाकर, मुक्ता ने दिलीप राय को जगाया। जागने और तैयार होने के वक्त दिलीप राय ने शायद ध्यान नहीं दिया; लेकिन बाहर आकर, गाड़ी में बैठते समय एक बार उन्होंने मुक्ता की ओर देखा, तो मुक्ता को लगा—उनकी नज़र साड़ी के पल्ले पर अटक-सी गई है।

पर दिलीप राय ने कुछ नहीं कहा। चुपचाप गाड़ी चलाने लगे, और मुक्ता गाड़ी की खिड़की से दिल्ली के खंडहरों को देखती एक विचार में उतर गई—न जाने इस दिल्ली ने मेरे भीतर कितनी बार बनना-उभरना है और कितनी बार खंडहर होना है···

१५

डॉक्टर ने मुक्ता का मुआयना किया तो पहली बधाई दिलीप राय
ो दी, दूसरी मुक्ता को।

यह वही डॉक्टर थी, जिसके हाथों दिलीप राय के पहले बच्चे का
जन्म हुआ था। उसे उस बच्चे की मृत्यु का भी पता था, इसलिए
उसकी आंखों में इस समय बधाई की पहली आवश्यकता दिलीप राय
को थी।

दिलीप राय को एक तसल्ली का एहसास हुआ, पर डॉक्टर के
जाने के बाद जब उन्होंने मुक्ता को आंखों में भरकर देखा, लगा—यह
तसल्ली का एहसास उन्हें इतना अपनी खातिर नहीं हुआ था, जितन
मुक्ता की खातिर…

जिस दिन मुक्ता ने घर की पहली औरत के कपड़े निकालकर प
थे, दिलीप राय ने कहा कुछ नहीं था, पर उस दिन से एक चिंता उनके
मन में उतर गई थी कि मुक्ता इस घर में आई है, पर अपना अस्तित्व
पहनकर नहीं…

आज उन्होंने मुक्ता को आंखों में भरकर देखा तो मुक्ता मुस्करा
पड़ी, पर क्षण-भर की तसल्ली के बाद दिलीप राय ने महसूस किया कि
मुक्ता की मुस्कराहट जैसे किसी खंडहर में से निकलकर सामने आई हो
बीते काल की धूल में लिपटी हुई, और किनारों से घिसी-टूटी हुई…

"तुम खुश नहीं हो ?" खुशी के पहले क्षण में ही दिलीप राय ने अचानक मुक्ता से पूछा; पर अपने शब्द ही कानों को अजीब लगे।

"खुश हूं,"···मुक्ता ने कहा, पर जल्दी से, जैसे पांव स्थिर न हों···

दिलीप राय ने एक संजीदगी से मुक्ता की इस घवराहट को झेल लिया, और उसका और अपना ध्यान नई ओर मोड़ना चाहा, पूछा, "तुम्हारा क्या जी करता है, लड़की हो या···"

"लड़का···" मुक्ता ने जल्दी से कहा।

दिलीप राय हंस पड़े। कुछ कहा नहीं, पर सोचा—हर औरत यही कहती है, पता नहीं क्यों ? औरत को अपनी जात अच्छी नहीं लगती।

कहा, "अगर लड़की हुई, तो ?"

"हो ही नहीं सकती।"

"क्यों ?"

"आप नहीं जानते।"

दिलीप राय हंसने लगे, पर मुक्ता नहीं हंसी। उसने सिर्फ एक उछलती नज़र से उधर देखा, जिधर कमरे में वच्चे की तस्वीर पड़ी हुई थी।

"मां को खत लिखूं ? बहुत खुश होगी।"···दिलीप राय ने कहा तो मुक्ता चौंक-सी गई, वोली, "नहीं मुझे डर लगता है।"

"डर ? काहे का ?"

"पता नहीं···शायद यह कि यह सच नहीं···नहीं, खत मत लिखना···"

दिलीप राय फिर हंस पड़े, पर कहने लगे, "अच्छा, नहीं लिखता, अगले हफ्ते लिखूंगा, या उससे अगले हफ्ते। जव भी तुम कहोगी।"

फिर दो हफ्ते भी वीत गए, पर खत लिखने का समय आकर भी नहीं आया। मुक्ता अचानक पीड़ा से तड़पने लगी, और डॉक्टर ने आकर कहा कि इस वच्चे को बचाया नहीं जा सकता।

हलका-सा ऑपरेशन करना पड़ा, पर मुक्ता को पीड़ामुक्त करके भी डॉक्टर जानती थी कि इस समय एक तसल्ली और हमदर्दी की आवश्यकता जितनी मुक्ता को है, उतनी दिलीप राय को नहीं। इस-लिए डॉक्टर ने बड़े अपनत्व से मुक्ता के लिए समय लगाया और विश्वास दिलाना चाहा कि आगे के लिए कोई सहम उसके लिए अन्दर न बैठे। मुक्ता की मां उस दिन पास रही थी। उसने घबराकर डॉक्टर से पूछा था कि एक बार अगर ऐसा हो जाए तो आगे भी सचमुच हमेशा ऐसे ही होने का खतरा होता है क्या? इसलिए डॉक्टर ने मुक्ता को, और उसकी मां को, तसल्ली देते हुए इकरार किया कि फिर वक्त आया तो मुक्ता की सारी हिफाजत वह पहले दिन से ही अपने हाथ में ले लेगी।

मुक्ता ने सिर्फ सुना, पूछा कुछ नहीं…शायद सुना भी नहीं। डॉक्टर चली गई, मां चली गई, तो उसने सिर्फ दिलीप राय से कहा, "आप बहुत उदास हैं?"

दिलीप राय ने कुछ चौंककर मुक्ता की ओर देखा। इस समय वह पीली जर्द-सी पलंग पर पड़ी हुई थी, और उसका यह प्रश्न कुछ स्वाभाविक हो सकता था, लेकिन दिलीप राय को स्वाभाविक नहीं लगा। लगा—ये शब्द आज के नहीं, ब्याह की पहली रात के, यहीं पलंग के पास पड़े हुए हैं…पहली रात पहले शब्द मुक्ता ने उनसे य कहे थे…

कुछ समझ में नहीं आया तो दिलीप राय पलंग की पट्टी पर मु के पास बैठ गए, और उसके एक हाथ को अपने हाथ में लेकर उ ओर देखने लगे।

देखा—मुक्ता की आंखों में पानी भर आया है…

"ऐसे ही होना था, मुझे लगा था…" मुक्ता ने धीरे से क एक ठण्डी सांस भरी, जैसे एक अन्तिम निर्णय अपने ही मुंह कानों को सुनाया हो।

"मुक्ता !…" दिलीप राय ने मुंह से निकाला तो मुक्ता ने एक आराम की सांस लेकर उनकी ओर देखा। लगा—इस पीड़ा की घड़ी में वह मुक्ता के कुछ निकट आ गए हैं…इसीलिए शायद उन्होंने आज मिस दिल्ली नहीं कहा…आज पहली वार मुक्ता कहा है।

पर दिलीप राय उसी तरह हैरान उसकी ओर देख रहे थे, शायद उसकी ओर नहीं, सिर्फ इन शब्दों की ओर—'ऐसे ही होना था, मुझे लगता था…'

'क्या सोच रहे हैं ?"…मुक्ता ने अचानक पूछा।

"तुम्हें ऐसा क्यों लगता था मुक्ता ? शायद कुछ है, जो तुम मुझे नहीं वता रही हो !"

दिलीप राय का प्रश्न सीधा मुक्ता से टकरा गया तो मुक्ता ने घवराकर अपना हाथ उनके हाथों से खींच लिया।

कुछ बच्चे के अस्तित्व से भी अधिक, जैसे मुक्ता के शरीर में से निचुड़ गया और वह विलकुल वेजान-सी कमरे की दीवारों की ओर देखने लगी…

"मुक्ता !"

दिलीप राय ने मुक्ता के होंठों के पास झुककर ऐसे आवाज़ दी, जैसे कोई कदम-कदम पर जाते हुए व्यक्ति को ज़ोर से आवाज़ देकर रोकना चाहे।

मुक्ता का मन ठिठककर खड़ा हो गया—परे जाने के लिए भी कोई जगह नहीं थी, इसलिए वहीं खड़े होकर, कांपकर, दिलीप राय की ओर देखने लगा…

दिलीप राय को याद आया—आज से कई दिन पहले, उस दिन, जिस दिन डॉक्टर ने पहली वार वधाई दी थी, उस दिन भी मुक्ता ने कहा था—'नहीं, मां को खत मत लिखना…मुझे डर लगता है…।'

लगा—कुछ है, जो मुक्ता को भीतर ही भीतर तोड़ रहा है…शायद वही कुछ आज उसे इस तरह लहूलुहान कर गया है…

दिलीप राय ने धीरे से मुक्ता के माथे पर हाथ रखा, पर मुंह से कुछ कहा।

पर दिलीप राय की हथेली के स्पर्श से मुक्ता के माथे की नस चल गई, आंखों में पानी बनकर आ गई...

दिलीप राय ने उसकी आंखों से झर आए पानी को अपने पोरों से पोंछा और उसे कुछ हंसाने का जतन करते हुए कहा, "तुम औरतों को कई बातों का आप ही आप किस तरह पता चल जाता है? जानती हो, मां क्या कह रही थीं?"

"क्या?"

"कि यह ज़रूर लड़का था, तभी चला गया...लड़की होती तो ऐसा कुछ होना ही नहीं था...लड़कियों की बारी इस तरह नहीं हुआ करता... सो, अगली बार तुम अभी से सोच लो कि लड़की होगी, और इसलिए फिर ऐसे नहीं होगा...रोने की क्या बात है?"

"नहीं, अगली बार भी लड़की नहीं होगी..." मुक्ता के मुंह से यह निकला तो दिलीप राय फिर चौंक गए, पर हंसते हुए पूछने लगे, "तुम औरतों को यह किस तरह पता लग जाता है? इस बार भी तुम कहती थीं..."

"मुझे मालूम था।"

"कैसे?"

"यह राहुल था।"

दिलीप राय ने मुक्ता के मुंह से अपने मरे हुए बच्चे का नाम सुना तो कांपकर मुक्ता की ओर देखा।

—सचमुच यह राहुल था... मुक्ता के मन ने छलक जाना चाहा, कहना चाहा कि मैं जब यहां आई थी तो मेरी गोद में उसकी लाश पड़ी हुई थी...वही रोज हमारे पलंग पर होती थी...हम दोनों के बीच...अब वही मेरे भीतर थी...

पर मुक्ता की जीभ जैसे सुन्न हो गई, यह भयानक सारा कुछ जी

पर जम गया…

"मुक्ता !" दिलीप राय ने घबराकर मुक्ता का सिर अपने घुटनों पर रख लिया, फिर प्यार से कहा, "यह पागलपन है मुक्ता ! तुम यही सोचा करती थीं ? तुम्हें इसीलिए डर लगा करता था ?"

मुक्ता ने ज़र्द होकर दिलीप राय की ओर देखा, फिर कांपती हुई-सी कहने लगी, "वह इसीलिए मर गया था, क्योंकि मैंने चाहा था।"

"पगली ! तुमने तो उसे…"

पर मुक्ता दिलीप राय की बात को सुने बिना कहती गई, "नहीं, यह मैंने सोचा था कि वह न हो…तो वह मुझसे गुस्से होकर चला गया… वह इसीलिए…इसीलिए…"

दिलीप राय ने मुक्ता के कांपते हुए होंठों को हथेली से चुप करना चाहा, पर मुक्ता के मन में जो कुछ था, वह सारे का सारा दिलीप राय की हथेलियों पर आ पड़ा, "आपने मुझे बच्चे की खातिर चाहा था, अपने लिए नहीं…पर मैं आपको चाहती थी—सारा, किसी और का नहीं…बच्चे का भी नहीं…इसीलिए मैंने चाहा, वह न हो…"

"तुमने इसीलिए कई महीने ब्याह के लिए हां नहीं की थी ?"… दिलीप राय ने बड़े धीरे से संभली हुई आवाज़ में पूछा।

"हां, इसीलिए…और सिर्फ इसलिए नहीं कि आपका एक बच्चा था, इसलिए भी, कि पहले मेरी जगह पर कोई और थी…अब नहीं थी, पर पहले थी…क्यों थी…"

"वह मेरी बेवफाई थी।" दिलीप राय ने एक बार हंसकर कहा, फिर पलंग से उठकर, पलंग के पास खड़े होकर मुक्ता की ओर देखते हुए गंभीर हो गए, कहने लगे, "तुमने सचमुच मुझसे इस तरह प्यार किया है मुक्ता ?"

और फिर वह मुक्ता के पास झुककर कहने लगे, "खतरनाक औरत ! जब तुझे सोचा था, तब यह मैंने नहीं सोचा था…"

मुक्ता ने अपनी कांपती हुई बांह उनके गले में लपेट दी—कहा,

"पर मेरी मुहब्बत में यह गुनाह क्यों शामिल हो गया ? मैं आपको पाना चाहती थी, नहीं चाहती थी कि आप किसी और के भी हों, बच्चे के भी नहीं, पर मैं बच्चे की मौत नहीं चाहती थी···यह चाहती थी कि वह न हो, पर यह नहीं चाहती थी कि वह मर जाए···"

दिलीप राय ने अपने हाथों से जैसे अनन्त के क्षण को छू लिया, मुक्ता की मुहब्बत को बच्चे का अस्तित्व स्वीकार नहीं था, पर उसकी मृत्यु भी स्वीकार नहीं थी, और इस बात को जितना मुक्ता ने भी नहीं पाया था, वह दिलीप राय ने पा लिया···

मुक्ता ने फिर कहा, "मैं अपने और आपके बीच वह बच्चा नहीं चाहती थी, वह नहीं रहा, पर उसकी जगह उसकी लाश आ गई···रोज़, यहां पलंग पर···"

दिलीप राय ने मुक्ता के होंठों पर अपना हाथ रख दिया, कहा, "नही मुक्ता ! तुम्हारे और मेरे बीच और कोई चीज़ नहीं है। मेरा अतीत शायद था, पर अब नही है···

मुक्ता सवेरे जागी तो देखा—कमरे में रोज़ वाली जगह पर वह तस्वीर नहीं थी, जो दिलीप राय ने किसीके भी कहने पर कमरे से उठाने नहीं दी थी···

मुक्ता ने धीरे से उठकर बराबर के कमरे की अलमारी टटोली तो वह तस्वीर मिल गई। उसने तस्वीर को फिर अलमारी में से उठाया, उसे पोंछा और कमरे मे उसी जगह पर रख दिया, जहां वह हमेशा रखी रहती थी। दिलीप राय ने तस्वीर को फिर उसी जगह पर देखकर मुक्ता की ओर देखा तो मुक्ता हंस पड़ी, "यह अब मेरे भी हैं। आपका अतीत सबका सब मेरे अतीत में शामिल हो गया है, मेरा बन गया है, मेरा अपना···"

अजनबी अंधेरा

एक अंधेरा था, जिसे वह, जब से जन्मी थी, पहचानती थी···

जन्मी थी, तो किसीकी आवाज़ कानों में पड़ी थी, शायद दाई की, कि 'छोटी' आ गई। उससे पहले घर में एक और बेटी भी थी, इसलिए दर्जे के अनुसार वह जन्म के समय से छोटी जन्मी थी। फिर कोई सवा बरस छोटी रही थी कि घर में एक और लड़की का जन्म हुआ, और वह दर्जे के अनुसार 'बिचली' हो गई थी···

मां नहीं बच सकी थी, न नई जन्मी छोटी; पर वह 'बिचली' एक अंधेरे में उसी तरह खड़ी रही, और अंधेरे से हिलमिल गई···

उसका किसीने नाम नहीं रखा था, वैसे ही अनामी रह गई थी—'बिचली'। फिर कालान्तर में बड़ी 'ससुराल' कहलाने वाले देस चली गई, और पिता 'परलोक' कहलाए जाने वाले देस चला गया तो घर में आने-जाने वाले, पिता के मित्र कहलाने वाले एक व्यक्ति ने उसे अंधेरे में एक रास्ता-सा दिखाया, जहां से कदम-कदम चलते हुए वह अन्त में अपनी रोटी कमाने वाले आसरे तक पहुंच गई···

बड़ी खाते-पीते घर में ब्याही थी, बिचली को भी वह लड़कियों-बहनों की तरह अपने घर की छत के नीचे रख सकती थी, पर 'अपने छैला का क्या करूं, आंखों के सामने उसकी जवानी उधड़ते हुए कैसे देखूं?' वाली बात थी, जिसके हाथों वह बिचली का अ[illegible]हीं बन

"पर मेरी मुहब्बत में यह गुनाह क्यों शामिल हो गया ? मैं आपको पाना चाहती थी, नहीं चाहती थी कि आप किसी और के भी हों, बच्चे के भी नहीं, पर मैं बच्चे की मौत नहीं चाहती थी···यह चाहती थी कि वह न हो, पर यह नहीं चाहती थी कि वह मर जाए···"

दिलीप राय ने अपने हाथों से जैसे अनन्त के क्षण को छू लिया, मुक्ता की मुहब्बत को बच्चे का अस्तित्व स्वीकार नहीं था, पर उसकी मृत्यु भी स्वीकार नहीं थी, और इस बात को जितना मुक्ता ने भी नहीं पाया था, वह दिलीप राय ने पा लिया···

मुक्ता ने फिर कहा, "मैं अपने और आपके बीच वह बच्चा नहीं चाहती थी, वह नहीं रहा, पर उसकी जगह उसकी लाश आ गई···रोज़, यहां पलंग पर···"

दिलीप राय ने मुक्ता के होंठों पर अपना हाथ रख दिया, कहा, "नहीं मुक्ता ! तुम्हारे और मेरे बीच और कोई चीज़ नहीं है। मेरा अतीत शायद था, पर अब नहीं है···

मुक्ता सवेरे जागी तो देखा—कमरे में रोज़ वाली जगह पर वह तस्वीर नहीं थी, जो दिलीप राय ने किसीके भी कहने पर कमरे से उठाने नहीं दी थी···

मुक्ता ने धीरे से उठकर बराबर के कमरे की अलमारी टटोली तो वह तस्वीर मिल गई। उसने तस्वीर को फिर अलमारी में से उठाया, उसे पोंछा और कमरे मे उसी जगह पर रख दिया, जहां वह हमेशा रखी रहती थी। दिलीप राय ने तस्वीर को फिर उसी जगह पर देखकर मुक्ता की ओर देखा तो मुक्ता हंस पड़ी, "यह अब मेरे भी हैं। आपका अतीत सबका सब मेरे अतीत में शामिल हो गया है, मेरा बन गया है, मेरा अपना···"

अजनबी अंधेरा

एक अंधेरा था, जिसे वह, जब से जन्मी थी, पहचानती थी…

जन्मी थी, तो किसीकी आवाज़ कानों में पड़ी थी, शायद दाई की, कि 'छोटी' आ गई। उससे पहले घर में एक और बेटी भी थी, इसलिए दर्जे के अनुसार वह जन्म के समय से छोटी जन्मी थी। फिर कोई सवा बरस छोटी रही थी कि घर में एक और लड़की का जन्म हुआ, और वह दर्जे के अनुसार 'बिचली' हो गई थी…

मां नहीं बच सकी थी, न नई जन्मी छोटी; पर वह 'बिचली' एक अंधेरे में उसी तरह खड़ी रही, और अंधेरे से हिलमिल गई…

उसका किसीने नाम नहीं रखा था, वैसे ही अनामी रह गई थी—'बिचली'। फ़िर कालान्तर में बड़ी 'ससुराल' कहलाने वाले देस चली गई, और पिता 'परलोक' कहलाए जाने वाले देस चला गया तो घर में आने-जाने वाले, पिता के मित्र कहलाने वाले एक व्यक्ति ने उसे अंधेरे में एक रास्ता-सा दिखाया, जहां से कदम-कदम चलते हुए वह अन्त में अपनी रोटी कमाने वाले आसरे तक पहुंच गई…

बड़ी खाते-पीते घर में ब्याही थी, बिचली को भी वह लड़कियों-बहनों की तरह अपने घर की छत के नीचे रख सकती थी, पर 'अपने छैला का क्या करूं, आंखों के सामने उसकी जवानी उधड़ते हुए कैसे देखूं?' वाली बात थी, जिसके हाथों वह बिचली का आसरा नहीं बन

सकी। और बिचली ने बेआसरा होने का सच भी अंधेरे की तरह झेल लिया था।

रोटी कमाने का आसरा एक गांव के छोटे-से स्कूल की छोटी-सी नौकरी का था। इस आसरे की मद्धिम-सी लौ में उसने पहली बार अपना नाम ढूंढ़ा, अपने-आप ही, जो भी हाथ लगा। यह नाम बचनी था, जो उसने 'बिचली' का एक अक्षर बदलकर अपने साथ जोड़ लिया··· पर जो अभी भी उसकी याद को ऊपरा-ऊपरा लगता था, इतना कि कई बार उसकी याद में आता ही नहीं था···

एक घटना भी इस अंधेरे में घट गई—उसे उसके पिता का मित्र कहलाने वाले व्यक्ति से जोड़कर स्कूल में एक दन्तकथा प्रचलित हो गई, जिससे डरकर उस व्यक्ति ने अपनी नौकरी बचाने के लिए बचनी से कहा कि वह स्कूल की नौकरी छोड़ दे। यह सच है कि बचनी अपने हाथ में आए हुए आसरे को छोड़ने लगी तो उसके हाथ कांप गए···पर उस व्यक्ति ने अपना हाथ आगे किया, उस आसरे की जगह, तो बचनी ने उसका हाथ थामते हुए अंधेरे का भय भी थाम लिया···

सो, यह अंधेरा था, जिसे वह, जब से जन्मी थी, पहचानती थी। पर आज जब अपना गांव छोड़कर उसने एक बड़े शहर का रास्ता पकड़ा, तो स्टेशन के प्लेटफॉर्म पर पैर रखते समय देखा—सामने एक नया अजनबी अंधेरा है, उस शहर की जगमग करती हुई बत्तियों के समेत, जो पहले के परिचित अंधेरे से बिलकुल अलग तरह का है···

और उसने घबराकर अपनी दाहिनी ओर टटोलते हुए उसका हाथ कसकर पकड़ लिया, जो उसके पिता का मित्र कहलाता था, और जो आज उसे एक अनजान शहर में ले आया था, और कह रहा था, "बड़े शहरों की बातें और हुआ करती हैं। यहां गांवों की तरह कोई किसी-की ओर उंगली नहीं उठाता···तुम्हें पहले से अच्छी नौकरी मिलेगी···मैं हर हफ्ते की छुट्टी को तुम्हारे पास रहा करूंगा···फिर बस, गिनती के कुछ साल बाकी रहते हैं, गुजर जाएंगे···और जब मैं पेंशन पा लूंगा,

तुम्हारे पास आकर घर बसा लूंगा...''

इस आसरे में न जाने कृतज्ञता थी या मुहब्बत, बचनी इस अन्तर को नहीं पा सकी; पर आसरा ज़रूर था। बचनी ने उसका हाथ थाम लिया, और शहर के अजनबी अंधेरे को देखने लगी—जिसमें शहर की जगमग करती सारी बत्तियां डूबी हुई थीं...

फिर कोई छः महीने बीत गए...पर यह अजनबी अंधेरा, उसे लगा, उसी तरह अजनबी है। उसने छोटे-छोटे सरकारी नौकरों की बस्ती में एक कमरा किराये पर ले लिया था, दिन-भर पढ़ाई की डिग्री को हाथ में लेकर स्कूलों के दरवाज़े खटखटाती थी, और पिछली तनख्वाहों में से जोड़े हुए पैसे रोज़ उसके पल्ले में से गिरकर पल्ले को खाली करते जाते थे, पर अंधेरा उसी तरह अजनबी दीख रहा था।

इस अंधेरे से परिचय गांठने के लिए वह टाइप सीखने लगी। पता लगा था कि इस तरह शायद कोई सबील बन जाएगी, भले ही उसके साथ टाइप सीखने वाली कई लड़कियां बताती थीं कि शहरों में सबसे बड़ी डिग्री 'सिफारिश' होती है, और वह घबराकर अपने हाथों की ओर देखने लगती थी, जिनके पास यह डिग्री नहीं थी...

उसके हाथों में केवल टाइप करने का अभ्यास आया, पर नौकरी के लिए जो चाहिए, और जो उसके विचार में उसके पास नहीं था, अचानक एक दिन किसीने आकर ढूंढ़ लिया। वह ढूंढने वाला एक मिल का मालिक था, जिसने उसकी ओर देखते ही अपने दफ्तर के एक कोने में पड़ी हुई मेज़ और कुर्सी उसे देते हुए उसका मासिक वेतन बांध दिया।

उसके अपने छोटे-से शीशे ने उसे कभी नहीं बताया था कि वह एक धूल में पड़े हुए मोती के समान सुन्दर है और अगर उसे धो-पोंछ-कर काली मखमल पर रखा जाएगा तो देखने वाले की आंख चौंधिया जाएगी...पर यह बात मिल के मालिक को शायद [illegible] नज़र ने बता दी थी...

वह जो उसके पिता का मित्र कहलाता था,

दूसरे सप्ताह ज़रूर आता था। और उसने वचनी के बदन से परिचित होते हुए उससे चाहे कोई रिश्ता नहीं जोड़ा था, पर अड़ोस-पड़ोस के घरों में और मिल के मालिक की आंखों में वचनी का चाचा होने का रिश्ता अवश्य जोड़ लिया था।

'ठीक है...' वचनी सोचती—'एक औरत और एक मर्द का एक ही कमरे में रहना और सोना, लोगों को सिर्फ गिने-चुने रिश्तों की शक्ल में ही समझ में आ सकता है...'

सिर्फ वह कभी-कभी भविष्य के बारे में चिन्तित हो उठती—'वह जब पहले परिवार से और नौकरी की अवधि से मुक्त होकर यहां आ जाएगा, मेरे साथ घर बसाएगा, तो फिर जिनके सामने उसे चाचा कहती हूं, फिर क्या पुकारूंगी ?'

पर इस चिन्ता को फिर वह अपनी ही हथेली से पोंछ डालती—'फिर पड़ोस बदल लूंगी, और कौन जाने तब तक नौकरी भी बदल जाए, यह कौन-सी पक्की नौकरी है...'

कुछ 'पक्का' होने के नाम पर यदि वह आज तक किसी चीज़ से परिचित थी तो वह उसके पिता के मित्र कहलाने वाले व्यक्ति का सहारा था, जो उस अंधेरे का हिस्सा था, जिसे वह, जब से जन्मी थी, पहचानती थी। उसके लिए शहर का अंधेरा अभी तक अजनबी था...और इसीलिए मिल का वह मालिक भी अजनबी था, जिसने उसे इस शहर का पहला रोज़गार दिया था, और उसकी सब मेहरबानियां भी अजनबी थीं—जिनमें से एक यह भी थी कि उसने पांच नई साड़ियां, एक गर्म कोट, और कुल्लू तथा कश्मीर के दो गर्म शॉल उसे खरीदकर दिए थे। और यह सारा खर्च, जो उसने कहा था कि उसके वेतन में से वह थोड़ा-थोड़ा करके वसूल कर लेगा, उसने वसूल नहीं किया था। किसी महीने भी उसका वेतन नहीं काटा था। यह सब वचनी के लिए अजनबी अंधेरा था, जो अभी तक परिचित होने में नहीं आ रहा था, बल्कि कभी-कभी उसे लगता कि यह अंधेरा बढ़

रहा है। इसमें उसका अपना बाईस बरस का पहचाना हुआ चेहरा भी था। वह अपने बालों की कसी हुई चोटी किया करती थी, पर मिल के मालिक ने जब उसे एक हेयर-ड्रेसर का पता देकर उसके पास भेजा था तो लौटने पर उसे अपना चेहरा भी अजनबी हो गया लगा था, चाहे दफ्तर में सभी कर्मचारी उसकी ओर देखते—और आंखें झपकाकर देखते रह गए थे—सचमुच जैसे किसीने एक धोती को धो-पोंछकर काली मखमली पर सजा दिया हो…

और फिर एक दिन होनी के समान एक घटना घट गई। अब वह टाइपिस्ट होने के साथ-साथ सेक्रेटरी भी हो गई थी, इसलिए मिल-मालिक की डाक उसे ही खोलनी होती थी। एक दिन पत्र खोल रही थी कि एक पत्र उसी व्यक्ति का निकल आया, उसके पिता का मित्र कहलाने वाले व्यक्ति का। यह पत्र मिल के मालिक के नाम था, जिसमें उसकी पिछली मांग पर भेजे गए एक हज़ार रुपये मिलने का धन्यवाद था, पर साथ ही पांच सौ रुपये की और मांग थी…

बचनी के माथे में एक चीस उठी और उसके पैरों तक फैल गई। पत्र का एक-एक अक्षर कागज़ पर अचल था, पर उसकी आंखों में वह एक-एक अक्षर कांप उठा। और उसे लगा—पुराने परिचित अंधेरे में से एक प्रेत निकलकर आज उसके सामने आ खड़ा हुआ है…

मिल-मालिक के सामने उसका एक ही सवाल कांपा, "आपने एक हज़ार रुपया उसे भेजा, पर मुझे नहीं बताया…"

जवाब छोटा-सा था, "उसने कहा था, तुम्हें नहीं बताना है।" पर कुछ था, जो उस छोटे-से जवाब में से निकलकर बचनी की आयु के दूर बरसों तक फैल गया…

उसने मिल-मालिक से केवल एक ही मिन्नत की कि आगे कभी भी वह उसकी चोरी से किसीको कुछ नहीं भेजे…

"ठीक है, तुम्हारे लिए दिए थे, तुम नहीं चाहतीं, तो नहीं दूंगा।" मिल-मालिक ने इकरार कर लिया…पर बचनी साधारण-से वाक्य के दो

दूसरे सप्ताह ज़रूर आता था। और उसने वचनी के बदन से परिचित होते हुए उससे चाहे कोई रिश्ता नहीं जोड़ा था, पर अड़ोस-पड़ोस के घरों में और मिल के मालिक की आंखों में वचनी का चाचा होने का रिश्ता अवश्य जोड़ लिया था।

'ठीक है…' वचनी सोचती—'एक औरत और एक मर्द का एक ही कमरे में रहना और सोना, लोगों को सिर्फ गिने-चुने रिश्तों की शक्ल में ही समझ में आ सकता है…'

सिर्फ वह कभी-कभी भविष्य के बारे में चिन्तित हो उठती—'वह जब पहले परिवार से और नौकरी की अवधि से मुक्त होकर यहां आ जाएगा, मेरे साथ घर बसाएगा, तो फिर जिनके सामने उसे चाचा कहती हूं, फिर क्या पुकारूंगी ?'

पर इस चिन्ता को फिर वह अपनी ही हथेली से पोंछ डालती—'फिर पड़ोस बदल लूंगी, और कौन जाने तब तक नौकरी भी बदल जाए, यह कौन-सी पक्की नौकरी है…'

कुछ 'पक्का' होने के नाम पर यदि वह आज तक किसी चीज़ से परिचित थी तो वह उसके पिता के मित्र कहलाने वाले व्यक्ति का सहारा था, जो उस अंधेरे का हिस्सा था, जिसे वह, जब से जन्मी थी, पहचानती थी। उसके लिए शहर का अंधेरा अभी तक अजनबी था…और इसीलिए मिल का वह मालिक भी अजनबी था, जिसने उसे इस शहर का पहला रोज़गार दिया था, और उसकी सब मेहरबानियां भी अजनबी थीं—जिनमें से एक यह भी थी कि उसने पांच नई साड़ियां, एक गर्म कोट, और कुल्लू तथा कश्मीर के दो गर्म शॉल उसे खरीदकर दिए थे। और यह सारा खर्च, जो उसने कहा था कि उसके वेतन में से वह थोड़ा-थोड़ा करके वसूल कर लेगा, उसने वसूल नहीं किया था। किसी महीने भी उसका वेतन नहीं काटा था। यह सब वचनी के लिए अजनबी अंधेरा था, जो अभी तक परिचित होने में नहीं आ रहा था, बल्कि कभी-कभी उसे लगता कि यह अंधेरा बढ़

क्या, किसी मोहल्ले में नहीं रह सकोगी…"

ये शब्द एक हथौड़ा थे, और कहने वाले को लगा कि अभी सारी दीवार ढह पड़ेगी—पर बचनी ईंटों की दीवार से पत्थर की दीवार हो गई और बोली, "पहले तुमसे निबटूंगी, फिर गली-मोहल्ले की सोचूंगी…"

उसने उठकर बचनी का हाथ मरोड़ डाला और फिर अपना लोहे के पंजे जैसा हाथ उसकी गर्दन पर डाला, "यहां कौन तुम्हारा है, जो तुम्हें छुड़ाने आएगा ?"

बचनी को लगा—उसकी चीख केवल उसके अपने कानों से ही टकराई है, पर चीख दरवाजे से भी टकरा गई थी, और एक मिनट बाद, बराबर के कमरे वाले दरवाजे पर हाथ खड़का कर रहे थे। हाथ ढीला हुआ तो बचनी छूटकर दरवाजे के पास आई, और दरवाजा खोलकर कमरे के बाहर आ गई…

'यहां मेरा कौन है ?' दरवाजे के बाहर सचमुच अजनबी अंधेरा था, बचनी ठिठककर खड़ी हो गई। पर उसके पैरों के पास शायद उससे भी कुछ पूछने का समय नहीं था, वे आगे चल दिए—गली के मोड़ वाले घर की तरफ, जिसमें टेलीफोन लगा हुआ था।

उस घर में बचनी ने टेलीफोन करने की इजाजत मांगी, पर नम्बरों को घुमाते समय उसके हाथ कांप उठे—"यही अजनबी अंधेरा था, जिससे डरकर मैंने एक दिन उसका हाथ पकड़ा था और आज उसके ही हाथ से छूटने के लिए मैं अजनबी अंधेरे में एक हाथ मांग रही हूं…"

और बचनी को लगा, जैसे अजनबी अंधेरा चारों ओर से हंस रहा हो…

बचनी के कान कांपते रहे, हाथ कांपते रहे, पर टेलीफोन के नम्बर नहीं कांपे। दूसरी ओर से मिल-मालिक की आवाज पूछ रही थी, "कौन, बचनी ?…तुम घबराई हुई हो ? किससे ? कहां ?" और आवाज ने यह भी कहा, "मैं अभी आता हूं…"

मिनटों में ही वह पहुंच गया। एक अजनबी,

शब्दों, 'तुम्हारे लिए' पर चौंककर रह गई। ऐसे, जैसे कोई उसे परिचित अंधेरे में से निकालकर हौले-हौले अजनबी अंधेरे की ओर ले जा रहा हो···

उसके पिता का मित्र कहलाने वाले ने, इस सप्ताह की, और इसके साथ मिलने वाली किसी गुरु-पीर के जन्म-दिवस की छुट्टी पर, उसके पास आकर दो दिन रहना था, सो वह आया। कमरे की एक चाभी वह अपने साथ ले जाया करता था, और अगर दोपहर की गाड़ी से आता तो आकर खुद कमरा खोल लिया करता था। अब के भी खोल लिया। बचनी शाम को छः बजे काम पर से लौटी तो वह कमरे में बैठा हुआ था। और तब बचनी को पहली बार लगा—आज उसने अपना नहीं, गलती से किसी और का कमरा खोल लिया है···

पांव दहलीज़ पर अटक गए···

"मैं जानता था, तुम आने वाली होगी। देखो, मैंने तुम्हारे लिए चाय बनाकर रखी हुई है···" कमरे में से उसकी आवाज़ आई, पहचानी हुई, पहचाने हुए अंधेरे का हिस्सा और बचनी कमरे में जाकर, चाय का प्याला उसके हाथों से लेकर, एक मद्य के घूंट की तरह पीने लगी···

और एक क्षण बाद उसके हाथ थे, जिन्होंने बचनी की साड़ी का पल्ला खींचते हुए उसके अंगों को उसी प्रकार छूना चाहा, जैसे परिचित हाथ छूते हैं—पर यह क्षण चाकू की तेज धार जैसा हो गया, जिसने अतीत को बचनी के वर्तमान से चीरकर न जाने कहां परे फेंक दिया, और बचनी दीवार का एक हिस्सा होकर कमरे की दीवार के पास खड़ी हो गई।

"मुझे बेचने के बाद भी मेरा शरीर चाहिए?" वह दीवार की एक ईंट की भांति कमरे में बजी, और फिर दीवार की भांति निश्चल हो गई···

उस व्यक्ति ने एक तेज़ निगाह से देखा, फिर कहा, "अगर मैं गली-मुहल्ले को बुला लूं, बता दूं, मैं तुम्हारा कौन हूं, तुम इस मोहल्ले में तो

इन सर्च ऑफ

"आई सपोज़ वी आर नॉट यैट डैड !" मीनू की आवाज़ हल्की भी थी और कोमल भी, पर वह चुप्पी की तह से इस तरह सरककर गुज़री कि चुप्पी टूट गई।

सबसे पहला जो कोई सीट पर से उठा, उसने एक बार ध्यान से फिर अपनी सीट का नम्बर देखा—डी तीन। फिर अगली सीट पर जो भी कोई था, उससे पूछा, "आपका सीट-नम्बर ?" और साथ ही कहा, "जो भी है, याद कर लो, यह सीट-नम्बर हमारे कब्र-नम्बर हैं, सब अपनी-अपनी कब्र का नम्बर देख लो, वापस आकर फिर ठीक अपनी-अपनी कब्र ढूंढ़ लेंगे, पर अभी हम सचमुच जीवित हैं और अभी हम बाहर बर्फ पर जाकर बर्फ का नज़ारा देख सकते हैं।"

एक और कोई भी सीट पर से उठ बैठा, पर कहने लगा, "सिर्फ नज़ारा देखना है ? किसीके पास कैमरा भी होगा, नज़ारे की तस्वीर भी खींच सकते हैं।"

एक और किसीने सीट पर से उठते हुए कहा, "मलकुल मौत के फरिश्ते को ऐसे तो पता नहीं लगेगा, हम कहां से आ रहे हैं; पास में तस्वीर होगी, तो एग्जैक्ट सिचुएशन बता सकेंगे।"

मीनू की पिछली सीट पर एक ग्रामीण लड़की बिल्कुल गुच्छा हुई बैठी थी। मीनू अपनी सीट पर से उठी तो उसने उस लड़की को भी

और उसने बचनी को उससे छुड़ा दिया, उसके परिचित अंधेरे से।

पर उस रात जब बचनी कमरे में अकेली बैठी, उसे लगा—'अब आगे ?...आगे इस अजनबी अंधेरे के हाथ से छूटने के लिए किसे आवाज़ दूंगी ?'

और उसका अपना हाथ उसकी भरी हुई आंखों के आगे फैल गया—'न जाने अपने इस हाथ का आसरा मुझे कब मिलेगा ?...कब ?...कब ?...'

कहा। उसकी आवाज़ अब खीझी हुई नहीं थी, सिर्फ थकी हुई लगती थी।

"यह आपने पहले मेरे लिए नहीं कहा था, नहीं तो मैं इसे कम्पलीमेंट समझती।" मीनू को न चाहते हुए भी हंसी आई।

"अच्छा मैडम," बुजुर्ग दिखते उस किसीके पैर नहीं, पर आवाज़ जैसे बर्फ में धंस रही थी, कहने लगा, "पहले नहीं तो अब सही, कम्पलीमेंट समझ लो। अगर तुम जवान-जहान लोगों ने मौत से मखौल न किए तो और कौन करेगा!"

बात जिससे शुरू हुई थी, वह अब भी चुप था। सिर्फ अगले मिनट उसने मीनू के साथ कदम मिलाया। कहा कुछ नहीं, सिर्फ अपने पैरों के नीचे और मीनू के पैरों के नीचे चिरकती बर्फ की आवाज़ सुनता रहा।

वे चुप थे, पर बर्फ बर्फ से कुछ कहती लगती थी।

बर्फ जहां तक भी थी, एक-सी थी, पर जहाज़ के मुसाफिरों में अभी भी रंग और नस्ल का अन्तर था। गोरे मुसाफिर अकेले एक अलग ग्रुप में थे, पर हिन्दुस्तानी दिखते एक अलग ग्रुप में। इनमें से एक, कुछ मिनटों के लिए फिर जहाज़ की ओर मुड़ा, वापस लौटा, तो उसके साथ एयर होस्टेस थी। और उसने एक ट्रे में कुछ गिलास रखे हुए थे।

"दोस्तो! यह आखिरी दावत..." जिसने कहा, उसकी आवाज़ उसके हाथ के गिलास की तरह छलकी हुई थी।

"लैट अस इण्टरोड्यूस अवरसेल्व्ज़।" जिसने कहा, वह दक्षिण-भारत का लगता था।

"एक बार अपने मुंह से ही अपना नाम सुन लें..." एक और ने कहा, और बताया, "मेरा नाम जे० सी० पुरी।"

"माइन इज़ डाक्टर राओ।"

"मेरा बलदेव शर्मा।"

जो बुज़ुर्ग-सा दिखता था, उसने कहा, "दास को बलवन्तसिंह बराड़

उठने के लिए और जहाज़ में से बाहर आने के लिए कहा।

लड़की के मुंह का पीला रंग इस वक्त हरा-सा होता जा रहा था। उसने फैली-फैली आंखों से मीनू के मुंह की तरफ देखा, फिर 'ना' में सिर हिला दिया।

लड़की के गले में सिर्फ एक स्वेटर था। मीनू को लगा, वह डर के साथ-साथ ठंड से भी कांप रही थी। मीनू ने कहा कुछ नहीं, एक कम्बल खोलकर उस लड़की के कन्धों पर डाल दिया।

"सो यंग मैन ! यू आर ए स्पेस एक्सप्लोरर !" एक बुजुर्ग-से दिखते किसीने कहा, एक बार चारों ओर अन्तहीन बर्फ की तरफ देखा और उसके कन्धे पर मिनट-भर के लिए हाथ रखा, जिसने सबसे पहले अपनी सीट से उठते हुए कहा था कि अभी हम बाहर जाकर बर्फ का नज़ारा देख सकते हैं।

जवाब में उस दूसरे ने, बुजुर्ग के मुंह की ओर देखा, पर कुछ कहा नहीं।

हवा तेज नहीं थी, पर धीमी हवा में भी कच्ची बर्फ के कण मिले हुए थे। पैरों में पड़ी बर्फ कोरे लट्ठे की तरह चरमराती थी। बुजुर्ग-से दिखते उस व्यक्ति ने इर्द-गिर्द की सारी बर्फ को जैसे आंखों में समेट लिया और कहने लगा, "यह भी लट्ठे का कफन है, हम सबका कफन। लो, सब नज़ारा कर लो कफन का !"

जिसने इस बर्फ को नज़ारा कहा था, वह चुप था, पर यह बुजुर्ग-सा दिखता कोई उससे खीझ-सा गया लगता था।

दोनों की ओर मीनू की पीठ थी, पर उसके कान में यह सारी आवाज़ पड़ी थी। उसने धीरे से मुंह घुमाया और कहने लगी, "पर अभी हम जीते हैं, अभी हम कफन के ऊपर चल रहे हैं।"

"तुम्हारी इन बातों के लिए, मैंने तुम्हें स्पेस एक्सप्लोरर कहा था। बताओ, मैंने गलत कहा था ?" उस बुजुर्ग दिखते किसीने फिर

कहा। उसकी आवाज़ अब खीझी हुई नहीं थी, सिर्फ थकी हुई लगती थी।

"यह आपने पहले मेरे लिए नहीं कहा था, नहीं तो मैं इसे कम्पलीमेंट समझती।" मीनू को न चाहते हुए भी हंसी आई।

"अच्छा मैडम," बुज़ुर्ग दिखते उस किसीके पैर नहीं, पर आवाज़ जैसे वर्फ में धंस रही थी, कहने लगा, "पहले नहीं तो अब सही, कम्पलीमेंट समझ लो। अगर तुम जवान-जहान लोगों ने मौत से मखौल न किए तो और कौन करेगा!"

वात जिससे शुरू हुई थी, वह अब भी चुप था। सिर्फ अगले मिनट उसने मीनू के साथ कदम मिलाया। कहा कुछ नहीं, सिर्फ अपने पैरों के नीचे और मीनू के पैरों के नीचे चिरकती वर्फ की आवाज़ सुनता रहा।

वे चुप थे, पर बर्फ बर्फ से कुछ कहती लगती थी।

वर्फ जहां तक भी थी, एक-सी थी, पर जहाज़ के मुसाफिरों में अभी भी रंग और नस्ल का अन्तर था। गोरे मुसाफिर अकेले एक अलग ग्रुप में थे, पर हिन्दुस्तानी दिखते एक अलग ग्रुप में। इनमें से एक, कुछ मिनटों के लिए फिर जहाज़ की ओर मुड़ा, वापस लौटा, तो उसके साथ एयर होस्टेस थी। और उसने एक ट्रे में कुछ गिलास रखे हुए थे।

"दोस्तो! यह आखिरी दावत..." जिसने कहा, उसकी आवाज़ उसके हाथ के गिलास की तरह छलकी हुई थी।

"लैट अस इण्टरोड्यूस अवरसेल्व्ज़।" जिसने कहा, वह दक्षिण-भारत का लगता था।

"एक वार अपने मुंह से ही अपना नाम सुन लें..." एक और ने कहा, और बताया, "मेरा नाम जे० सी० पुरी।"

"माइन इज़ डाक्टर राओ।"

"मेरा वलदेव शर्मा।"

जो बुज़ुर्ग-सा दिखता था, उसने कहा, "दास को वलवन्तसिंह वराड़

कहते हैं, पर इस फानी दुनिया के सारे ही नाम फानी। एक परमात्मा का नाम सच्चा, बाकी सब झूठे !"

"मेरा फानी नाम सुल्तान।" यह उसने कहा, जो मीनू के साथ चलता हुआ अभी तक चुप था।

"मेरा मीनू फानी।" मीनू ने ऐसे कहा, जैसे फानी उसका तखल्लुस हो।

हंसी, सहज ही, बर्फ की हल्की-सी बौछार की तरह पड़ी और सबके होंठ गीले-से हो गए।

"और हमारे मेजबान का नाम ?" मिस्टर पुरी ने पूछा।

"के० पी० एस० मदान।"

मिस्टर मदान ने पहला गिलास एयर होस्टेस की तरफ बढ़ाया, "मैडम, आज कोई मेहमान नहीं है, कोई मेजबान नहीं, हम सब ही दो घड़ियों के मेहमान हैं, तुम यहीं हमारे पास बैठ जाओ।"

"बहुत-बहुत शुक्रिया ! पर अभी भी मैं ड्यूटी पर हूं। दोनों पायलेट इंजन के पास हैं, अभी उन्हें मेरी जरूरत पड़ेगी।" एयर होस्टेस की आवाज़ अडोल थी, पर किसीको लगा, जैसे वह निराशा की ओर झुकी हुई थी कि अभी जब दोनों पायलेट और हार जाएंगे, उन्हें मेरी ज़रूरत नहीं रहेगी, मैं यहां बर्फ में दब जाने के लिए तुम्हारे पास लौट आऊंगी पर किसीको लगा, जैसे वह आवाज़ कुछ आशा की ओर पलटी हुई थी, "ठहरो, अभी क्या पता, अभी इंजन को कुछ संवार ले !"

"मैडम, हमें एक बार सच-सच बता दो, इंजन के ठीक होने की कोई उम्मीद हो सकती है ?" मिस्टर बराड़ ने जल्दी से पूछा, तो उसकी आवाज़ कुछ कांप गई। यह आवाज़ नैराश्य में थी और चुपचाप बर्फ में धंसती लगती थी, पर ज़रा-सी आशा की ओर झुकी तो कांप गई।

"इंजन शायद नहीं, पर शायद रेडियो…जो कहीं, किसी जगह,

खबर दी जा सके…" एयर होस्टेस ने हाथ की [illegible] [illegible] की एक [illegible] थड़ी पर रख दी थी, इसलिए इतना-सा कहकर [illegible] गई।

मिस्टर मदान ने अगला गिलास मीनू को पकड़ाया। मीनू ने ना नहीं की, गिलास पकड़ लिया। सिर्फ इतना कहा, "शेम्पियन-शावर सुनी थी, पर शेम्पियन-लैंडिंग नहीं सुनी थी। मिस्टर मदान, आपने एयर इंडिया सर्विस को एक नई टर्न दी है।"

सबको अपनी आंखें एक पल के लिए मीनू के मुंह पर अटक गई-सी लगीं। आंखों की हसरत शायद एक जैसी थी—काश! आज की दावत पर मौत की परछाईं न होती। सबने गिलास पकड़ लिए तो मिस्टर मदान ने कहा, "मिस्टर सिंह ने ठीक कहा था। आई मीन मिस्टर वराड़ ने…कि इस फानी दुनिया के सारे नाम ही फानी, एक परमात्मा का नाम सच्चा। सो आज की आखिरी शराब सच्चे परमात्मा के नाम!"

मिस्टर वराड़ ने अपना हाथ सबसे पहले ऊंचा किया, फिर शेष लोगों ने।

सिर्फ सुल्तान ने धीमे से मीनू से कहा, "आज की शराब नहीं. पानी का घूंट भी, और गले की आखिरी सांस भी, इस फानी दुनिया के नाम!"

मिस्टर मदान ने एक ही वार में गिलास खत्म कर लिया था, पर शेष सभी इस गिलास को बहुत देर में खत्म करना चाहते थे।

"इस गिलास के साथ दाना भी खत्म हो जाएगा, पानी भी…"

मिस्टर वराड़ ने अपने गिलास की ओर देखा, एक घूंट भरा, पर मुश्किल से जैसे होंठों को छुआया हो और सोचा हो कि अगर यह ज़िन्दगी का आखिरी गिलास किस्मत में लिखा हुआ था, तो वह इसे जितने भी धीरे-धीरे पिएगा, उसके जीने का वक्त उतना ही लटक जाएगा।

कहते हैं, पर इस फानी दुनिया के सारे ही नाम फानी। एक परमात्मा का नाम सच्चा, बाकी सब झूठे!"

"मेरा फानी नाम सुल्तान।" यह उसने कहा, जो मीनू के साथ चलता हुआ अभी तक चुप था।

"मेरा मीनू फानी।" मीनू ने ऐसे कहा, जैसे फानी उसका तखल्लुस हो।

हंसी, सहज ही, बर्फ की हलकी-सी बौछार की तरह पड़ी और सबके होंठ गीले-से हो गए।

"और हमारे मेजबान का नाम?" मिस्टर पुरी ने पूछा।

"के० पी० एस० मदान।"

मिस्टर मदान ने पहला गिलास एयर होस्टेस की तरफ बढ़ाया, "मैडम, आज कोई मेहमान नहीं है, कोई मेजबान नहीं, हम सब ही दो घड़ियों के मेहमान हैं, तुम यहीं हमारे पास बैठ जाओ।"

"बहुत-बहुत शुक्रिया! पर अभी भी मैं ड्यूटी पर हूं। दोनों पायलेट इंजन के पास हैं, अभी उन्हें मेरी जरूरत पड़ेगी।" एयर होस्टेस की आवाज़ अडोल थी, पर किसीको लगा, जैसे वह निराशा की ओर झुकी हुई थी कि अभी जब दोनों पायलेट और हार जाएंगे, उन्हें मेरी जरूरत नहीं रहेगी, मैं यहां बर्फ में दब जाने के लिए तुम्हारे पास लौट आऊंगी पर किसीको लगा, जैसे वह आवाज कुछ आशा की ओर पलटी हुई थी, "ठहरो, अभी क्या पता, अभी इंजन को कुछ संवार ले!"

"मैडम, हमें एक बार सच-सच बता दो, इंजन के ठीक होने की कोई उम्मीद हो सकती है?" मिस्टर बराड़ ने जल्दी से पूछा, तो उसकी आवाज़ कुछ कांप गई। यह आवाज़ नैराश्य में थी और चुपचाप बर्फ में धंसती लगती थी, पर ज़रा-सी आशा की ओर झुकी तो कांप गई।

"इंजन शायद नहीं, पर शायद रेडियो…जो कहीं, किसी जगह,

डाल ली।

"यह शायद कोटों के काले और सफेद रंग का फर्क है।" सुल्तान हंस-सा दिया।

"क्या मतलव ?" मीनू ने पूछा।

"मौत का खौफ भी शायद सफेद वर्फ जैसा है। सफेद कोट पर नज़र नहीं आता, पर काले कोट पर झट नज़र आ जाता है।"

इस वार मीनू हंस पड़ी और कहने लगी, "मुल्तान, तुमने इसीलिए ज़िन्दगी को अजीव कहा था ?"

"हां, पर तुमने भी कहा था कि ज़िन्दगी अजीव चीज़ है !"

"मैंने इसलिए नहीं कहा था। किसी और वात पर कहा था।"

"कौन-सी वात पर ?"

"जिस वक्त केविन में अनाउंस हुआ था कि एक इंजन में कुछ खरावी-सी है, वाईं तरफ की अगली सीटों पर वैठे हुए लोग दाईं तरफ हो जाएं, मुझे उसी वक्त पता लग गया था कि वाईं तरफ वाले इंजन में आग लग चुकी थी…"

"माई गॉड ! यह तुम्हें उसी वक्त से पता था ?"

"हां, यह पता लग गया था कि आज ज़िन्दगी का आखिरी दिन है, पर फिर भी एक अजीव इच्छा मन में आई थी। वैसे मुझे उम्मीद नहीं थी कि वह पूरी होगी; पर हो गई, इसलिए ज़िन्दगी को अजीव कह रही थी।"

सुल्तान ने मीनू के मुंह की तरफ देखा—शायद कब्र में पैर रखते समय किसी इच्छा-पूर्ति की वात उसे वहुत अजीव लगी थी।

"अजीव वात है न ?" मीनू ने कहा और वताया, "प्लेन को आग लग जाए और हम अलमारियों में वन्द चूहों की तरह जलकर मर जाएं; वस, मुझे इससे नफरत थी। उस वक्त मैंने चाहा, काश, हमारा पायलेट प्लेन को किसी जंगल में या किसी वर्फ की वादी में उतार सके और हम जंगली जानवरों की तरह स्वतन्त्रता से मर सकें…"

"दोस्तो ! गम मत करो, जेब में जितनी भी फॉरेन करेंसी थी, सारी खर्च कर दी है . आखिरी सांस तक पीते जाओ।" मिस्टर मदान ने कहा और ओवर कोट की जेब में से एक और बोतल निकाली।

सुल्तान और मीनू कुछ पीछे होकर, बर्फ की एक चट्टान के पास खड़े हो गए थे। मिस्टर मदान ने उनके कुछ गिलास फिर भरने चाहे, पर मीनू ने 'ना' कर दी, "यह मेरे लिए काफी है।"

सिर्फ किसी वक्त मीनू हाथ से पोली बर्फ की एक मुट्ठी भरती और गिलास में डाल देती। खाली हुआ गिलास फिर भरा लगता।

सुल्तान चुप था, सिर्फ एक बार मीनू ने जब एक मुट्ठी बर्फ फिर गिलास में डाली, तो सुल्तान ने कहा, "मिस्टर सिंह इस बर्फ को हमारा कफन कहते हैं..."

'सो आई वांट टु ड्रिंक द होल लाट..." मीनू हंस पड़ी और उसने दूर, नज़दीक, जहां तक नज़र जाती थी, बर्फ की वैली को देखा।

मीनू के गले में सफेद गर्म कोट था, पर सुल्तान के गले में काला कोट। रुई-सी सफेद बर्फ मीनू के कोट पर भी गिरती थी, पर इतनी दिखती नहीं थी, जितनी सुल्तान के काले कोट पर।

"ज़िन्दगी अजीब चीज़ है।" सुल्तान ने इतने धीरे कहा, जैसे मीनू से नहीं, सिर्फ अपने-आपसे कह रहा हो।

"हां, बड़ी अजीब चीज है।" मीनू के ये शब्द भी जैसे पतली बर्फ की तरह झरे और फिर उसके पैरों के पास गिर पड़े।

सुल्तान कुछ देर चुप रहा। फिर उसने अपने काले कोट से बर्फ झाड़ी।

"वी नैवर मैट इन लाइफ, बट वी विल डाइ टुगैदर !" सुल्तान ने कहा, पर ये शब्द भी जैसे बर्फ की तरह झाड़े।

"ऐलोन ऑर टुगेदर, इट मेक्स नो डिफरैंस..." मीनू ने कहा, और इस बार उसने झुककर ज़मीन पर से बर्फ उठाने के बजाय अपने कोट के कॉलर पर पड़ी हुई बर्फ उंगलियों से इकट्ठी की और अपने गिलास में

सिंह ने पुरी के कन्धे पर एक तगड़ा हाथ मारा।

"वल्ले सरदारजी ! अभी तो इन्श्योरेंस का गम कर रहे थे और अभी सरदारनियों की वही भी फाड़ दी···" मिस्टर पुरी ने अपने खाली गिलास को मिस्टर सिंह के खाली गिलास से टकराया।

"भई, हम प्रैक्टिकल आदमी हैं। पता होता तो सरदारनी को हैविली इन्श्योर करवाकर जहाज़ पर चढ़ा देते···" मिस्टर सिंह ने खाली गिलास में से एक ख्याली घूंट भरा और कहा, पर उसकी बात की तरफ शायद मिस्टर शर्मा का ध्यान नहीं था। उसने गेम वाली बात सोचते हुए उचककर कहा, "गेम तो खूब है, पर सबको वे भी नाम बताने चाहिए···" मिस्टर शर्मा से खड़ा नहीं रहा जा रहा था, उसकी आवाज़ भी टूट-सी गई।

"वह कौन-से नाम पंडितजी ?" मिस्टर मदान ने मिस्टर शर्मा के कन्धे पर हाथ रखा और खड़े रहने के लिए कुछ सहारा-सा दिया।

"वही, जिन्हें देख-देखकर···" मिस्टर शर्मा की आवाज़ फिर लड़-खड़ा गई।

"शाबाश ! ओ बहादुर, तुम हसीनों को देख-देखकर बस सोचते ही रहे होगे। किया कुछ भी नहीं होगा···" मिस्टर पुरी ने अपना खाली गिलास मिस्टर शर्मा के खाली गिलास से टकराया और हंसने लगा।

"लो बादशाहो, आज मैंने पी नहीं। आज पहली बार मैंने कसम तोड़ी है···इस बार मैंने सोच रखा था कि मैं विलायत जाकर भी ज़रूर···" मिस्टर शर्मा की आवाज़ फिर लड़खड़ा गई।

"ओ पंडितजी, कहीं इसी मारे तो जहाज़ का बेड़ा गर्क नहीं हो गया ! इस बार विलायत जाकर तुम्हें कसम तोड़नी थी···" मिस्टर मदान ने कहा और मिस्टर शर्मा के कन्धे को ऐसे झिंझोड़ा जैसे जहाज़ की दुर्घटना का असली कारण उसको अभी अचानक पता लगा हो। उसकी आवाज़ बहुत गमगीन हो गई, "जा नदीदे ! तू हमें भी ले डूबा है···"

कुछ मिनट तक सुल्तान से वोला नहीं गया। कुछ देर वाद मीनू ने कहा, "मैं जिन्दगी में किसीकी इतनी थैंकफुल नहीं हुई, जितनी आज इस प्लेन के पायलेट की…"

और मीनू ने दूर तक वर्फ की वादी को ऐसे देखा, जैसे दुनिया की इतनी खूवसूरती उसने पहली वार देखी हो।

सुल्तान को लगा कि उसकी आंखों में एक अजीव उजाला और अंधेरा, एक वार इकट्ठा तैर आया था। लगा—कभी पहले इस तरह मरने को उसका मन नहीं हुआ था और इस तरह पहले जीने को जी नहीं हुआ था…

खामोशी दोनों के जिस्म पर वर्फ की तरह झड़ती रही…

इस वक्त तक उनके सामने खड़े सव लोग वहुत पी चुके थे।

"आओ, एक गेम खेलें!" मिस्टर मदान कह रहे थे और पूछ रहे थे, "सारे जने वारी-वारी से उन सव औरतों के नाम गिनें, जिनके साथ वे सोते रहे हैं।"

"इस वक्त उन औरतों को भाड़ में झोंकना है? मुझे तो यह गम लगा हुआ है कि अगर मुझे यह पता होता तो मैं दस लाख का इन्श्योरेंस करवाकर जहाज़ पर चढ़ता, पीछे वाल-वच्चे ऐश करते।" जवाव में मिस्टर सिंह की आवाज़ रुआंसी हो गई थी।

"अगर यह पता होता, मिस्टर सिंह, तो फिर आप ज़रूर ही जहाज़ पर चढ़ते! महाराज, दस लाख के पीछे भी मरना नहीं होता।" मिस्टर पुरी मिस्टर सिंह को दिलासा भी दे रहे थे और उसकी वात पर हंस भी रहे थे। वोले, "यह सच वोलने की घड़ी है, सरदारजी! इस वक्त सच-सच वता दो, सारी सरदारनियों के नाम गिनवा दो। अव वाल-वच्चों का रोना भूल जाओ।"

"अरे! सरदारनियां कई आईं और कई गईं। हमने पनसारियों की तरह उनके नाम कोई वही में थोड़े ही दर्ज कर रखे हैं!" मिस्टर

सिंह ने पुरी के कन्धे पर एक तगड़ा हाथ मारा।

"वल्ले सरदारजी! अभी तो इन्श्योरेंस का गम कर रहे थे और अभी सरदारनियों की वही भी फाड़ दी ..." मिस्टर पुरी ने अपने खाली गिलास को मिस्टर सिंह के खाली गिलास से टकराया।

"भई, हम प्रैक्टिकल आदमी हैं। पता होता तो सरदारनी को हैविली इन्श्योर करवाकर जहाज़ पर चढ़ा देते..." मिस्टर सिंह ने खाली गिलास में से एक ख्याली घूंट भरा और कहा, पर उसकी बात की तरफ शायद मिस्टर शर्मा का ध्यान नहीं था। उसने गेम वाली बात सोचते हुए उचककर कहा, "गेम तो खूब है, पर सबको वे भी नाम बताने चाहिए..." मिस्टर शर्मा से खड़ा नहीं रहा जा रहा था, उसकी आवाज़ भी टूट-सी गई।

"वह कौन-से नाम पंडितजी?" मिस्टर मदान ने मिस्टर शर्मा के कन्धे पर हाथ रखा और खड़े रहने के लिए कुछ सहारा-सा दिया।

"वही, जिन्हें देख-देखकर..." मिस्टर शर्मा की आवाज़ फिर लड़-खड़ा गई।

"शाबाश! ओ बहादुर, तुम हसीनों को देख-देखकर बस सोचते ही रहे होगे। किया कुछ भी नहीं होगा..." मिस्टर पुरी ने अपना खाली गिलास मिस्टर शर्मा के खाली गिलास से टकराया और हंसने लगा।

"लो बादशाहो, आज मैंने पी नहीं। आज पहली बार मैंने कसम तोड़ी है...इस बार मैंने सोच रखा था कि मैं विलायत जाकर भी जरूर..." मिस्टर शर्मा की आवाज़ फिर लड़खड़ा गई।

"ओ पंडितजी, कहीं इसी मारे तो जहाज़ का बेड़ा गर्क नहीं हो गया! इस बार विलायत जाकर तुम्हें कसम तोड़नी थी..." मिस्टर मदान ने कहा और मिस्टर शर्मा के कन्धे को ऐसे झिंझोड़ा जैसे जहाज़ की दुर्घटना का असली कारण उसको अभी अचानक पता लगा हो। उसकी आवाज़ बहुत गमगीन हो गई, "जा नदीदे! तू हमें भी ले डूबा है..."

"लीव हिम एलोन, लैट अस प्ले द गेम···" डाक्टर राव ने मिस्टर मदान के हाथ को मिस्टर शर्मा की तरफ से मोड़कर अपनी ओर खींचा।

डूबते हुए सूरज की रोशनी में मिस्टर मदान के हाथ में पड़ी हीरे की अंगूठी चमकी।

"आई एम सॉरी फॉर दिस डायमंड रिंग···" मिस्टर राव ने एक अफसोस-भरी सांस ली और कहने लगा, "एंड फॉर द हैंड ऑफ कोर्स···"

मिस्टर राव जैसे वर्फ के कफन में लपेटी जाने वाली चीज़ों को गिन भी रहे थे और उन्हें एक हसरत से देख भी रहे थे।

"वट आई हैव सैलीब्रेटिड द डायमंड जुबली ऑफ माई वैड···आई मीन आई हैव स्लैप्ट विद मोर दैन हंडरेड विमैन···" मिस्टर मदान ने हीरे की अंगूठी वाला हाथ मिस्टर राव के कंधे पर रखा और कहने लगा, "आई कांट रिमैम्बर आल द नेम्ज़, वट टु स्टार्ट द गेम···"

"इट इज़ आल डिसगसटिंग···" सुल्तान ने जैसे अपने-आपसे कहा और उधर से मुंह मोड़ लिया।

"एंड वाट अवाउट द एयर होस्टेस···वांट यू लाइक टु ऐड वन मोर नेम ?" डाक्टर राव की आवाज़ दूर थी, जवाब में मिस्टर मदान की हंसी भी दूर थी, पर मीनू और सुल्तान को अपने कानों पर कुछ चीलें झपटती-सी लगीं।

मीनू के हाथ अनायास ही अपने कानों की ओर चले गए। ऊबकर कहने लगी, "अगर इस वक्त मेरे पास एक टेपरिकार्डर होता तो यह सब टेप करके यहां वर्फ में दबा देती, शायद कभी कोई उसे वर्फ में से निकाल लेता और अपनी सभ्यता का स्पेसीमैन देखता···"

"लैट अस गो ए लिटिल अवे···" सुल्तान ने कहा।

अचानक मीनू को वह लड़की याद हो आई, जो जहाज़ की सीट से उठकर वाहर नहीं आई थी।

"वेचारी वह लड़की···" मीनू के मुंह से निकला और उसने सुल्तान

को कहा, "मैं अन्दर जहाज़ में जाकर एक बार उस लड़की को देख आऊं।"

"दैट पूअर गर्ल…" सुल्तान को भी वह लड़की याद आई, और मीनू के साथ चलता हुआ पूछने लगा, "तुम्हें उस लड़की ने अपना कुछ नाम बताया था कि नहीं !"

"जहाज़ में देखी ज़रूर थी, पर मैंने उससे कोई बात नहीं की थी।"

"एथन में जहाज़ बदलने के समय वह बड़ी घबराई हुई थी, अपने-आप न तो उसने चाय का प्याला लिया था, न कोई कोल्ड ड्रिंक। उस वक्त मैंने उसे चाय का प्याला लाकर दिया था। वह बताती थी कि वह अकेली इंगलैंड जा रही है। पता है, क्यों ? वहां ब्याह कराने।"

"ब्याह कराने ?"

"बहुत साल हुए, उसका बाप वहां गया था। बता रही थी कि इतने बरसों बाद पता नहीं वह बाप को भी पहचान सकेगी या नहीं, बारह बरसों बाद वह वहां बाप को देखेगी।"

"माई गॉड !"

"बाप के जाने के बाद उसकी मां मर गई थी। कई बरस वह अपनी चाची के पास रही। अब अचानक उसके बाप ने उसे टिकट भेजा था। वहां कहीं सगाई भी कर दी थी और उसे बुलाकर उसके ब्याह का कुछ करना था…"

मीनू और सुल्तान जब जहाज़ के अन्दर गए, अन्दर के हिस्से का अंधेरा उन्हें धीरे-धीरे सिसकता-सा लगा।

मीनू अन्दाज़े से किन्तु जल्दी से उस सीट की ओर बढ़ी, जहां वह लड़की के कन्धों पर कम्बल उढ़ा गई थी।

कम्बल का गाढ़ा, सलेटी रंग, गाढ़े अंधेरे की तरह गहराया हुआ था।

मीनू ने धीरे से कम्बल को हिलाया। उस लड़की का सिर उसके

घुटनों में औंधा होकर घुटनों से जुड़-सा गया लगता था।

मीनू कितनी देर तक चुपचाप उसके सिर पर हाथ रखकर खड़ी रही।

"इसने शायद अपना नाम जीतो बताया था..." सुल्तान ने मीनू से कहा।

"जीतो...देख जीतो...तू अकेली नहीं...हम सब लोग...।" मीनू ने दोनों हाथों से उसका सिर उसके घुटनों पर से ऊंचा किया।

लड़की ने ज़ोर-सा लगाकर आंखें उघारीं, मीनू के मुंह की तरफ देखा, पर आंखें ऐसे झपकीं, जैसे उसने मीनू को पहचाना नहीं था।

कम्बल के अन्दर की तरफ कुछ लाल रंग का दिखाई दिया, और जब मीनू ने उस लड़की का हाथ पकड़ने के लिए उसकी बांह छुई, बांह के हिलने से अचानक कुछ छनक-सा गया।

"जीतो!" मीनू ने झुककर जीतो के मुंह की तरफ देखा, मुंह मांस की परछाईं-सा लगता था।

"आई थिंक शी शुड ईट समथिंग..." सुल्तान ने मीनू से कहा, "एयर होस्टेस शायद केबिन में होगी, मैं पता करता हूं। शायद अभी कुछ खाने के लिए जहाज़ में होगा।"

"मैं कुछ नहीं खाऊंगी!" अचानक जीतो की आवाज़ बिलख गई।

"बावरी लड़की! देख, हम मरेंगे तो सारे मरेंगे, पर भूखे क्यों मरें? मैं भी तेरे साथ कुछ खाऊंगी।" मीनू कह रही थी। इस वक्त जीतो में अचानक एक बल-सा आया, और वह कहने लगी, "मेरे बक्स में पिन्नियां पड़ी हुई हैं, तुम खा लो ना।"

"ला दे, मैं तो ज़रूर खाऊंगी..." मीनू हंस पड़ी और कहने लगी, "भूखे मरने से क्या फायदा!"

जीतो ने सीट के नीचे दाईं तरफ जब बांह लटकाई तो कुछ छनका। मीनू ने यह छनक पहले भी सुनी थी, पर उसे दीखा कुछ नहीं था, अब

उसने देखा कि जीतो की बांह के साथ एक लम्बा-सा कलीरा बंधा हुआ था।

मीनू ने कहा कुछ नहीं, सिर्फ हाथ आगे करके कलीरे को छुआ और फिर जीतो के मुंह की तरफ देखा।

"यह मेरी चाची ने दिया था, और उसने कसम दिलाई थी कि विलायत में जब मेरा ब्याह होगा, मैं यह ज़रूर बांधूंगी...पर चाची को क्या पता था..." जीतो का सिर उसकी अपनी लटकी हुई बांह पर गिर-सा गया।

मीनू जीतो के पास वाली सीट पर बैठ गई।

"यह चुनरी मेरी मां के हाथों की है..." जीतो की आवाज़ एक बार उभरी, फिर डूब-सी गई।

मीनू ने सलेटी कम्बल के अन्दर की तरफ जो लाल-सा देखा था, वह जीतो के सिर पर ली हुई जीतो की मां के हाथों की चुनरी थी।

यह जीतो का कैसा ब्याह है...जो मौत से एक घड़ी पहले जीतो ने खुद ही रचाया है...? मीनू ने कहा कुछ नहीं, पर कांप गई।

जीतो को पिन्नियों वाली बात शायद फिर याद आई, वह चौंक गई। उसकी बांह हिली, जो सीट के दाईं ओर निढाल-सी लटकी हुई थी और उसने प्लास्टिक के एक लिफाफे को मीनू के सामने रख दिया।

मीनू ने लिफाफे में से एक पिन्नी निकाली, तोड़ी और एक टुकड़ा सुलतान को पकड़ाया, एक टुकड़ा ज़बरदस्ती जीतो के मुंह में डाला और तीसरे टुकड़े को हथेली पर रखकर सीट से उठ बैठी।

"जीतो! यहां अंधेरे में अकेली मत बैठ। चल, कुछ देर के लिए बाहर आ जा।" मीनू ने कहा और जीतो की बांह पकड़ी।

"नहीं, बहनजी! मुझे यहीं रहने दो।...बाहर के वीराने से मुझे डर लगता है..." जीतो ने प्रार्थना के भाव में जवाब दिया, तो मीनू ने उसकी बांह छोड़ दी।

बाहर की ठंड और बर्फ शायद अब उनके लिए भी मुश्किल हो गई

थी, जो अभी तक बाहर थे। मीनू ने देखा कि बाहर खड़े सब लोग एक-एक करके जहाज़ के अन्दर ओट में लौट रहे थे।

मीनू जहाज़ के बाहर आ गई। सुल्तान भी उसके साथ आ गया था, इसलिए मीनू ने एक बार यह ज़रूर कहा, "तुम अन्दर बैठना चाहो तो बैठो।"

पर सुल्तान ने जवाब नहीं दिया तो मीनू ने फिर कुछ नहीं कहा।

यह शाम का उजाला था। सलेटी होने से पहले, कुछ गुलाबी हो गया लगता था; जैसे जाते वक्त धीरे से धरती को गले लगाकर उससे कुछ कह रहा हो।

"आई एम नॉट सॉरी फॉर माईसैल्फ..." मीनू ने बर्फ की वैली को प्यासी आंखों से पिया, फिर सुल्तान की ओर देखकर कहा, "आई वाज़ ओनली ए लिटल सॉरी फॉर हर..."

"दैट वाज़ वैरी टचिंग..." सुल्तान ने ऐसे परे देखा, जैसे उसकी आंखें गीली हो गई हों, फिर आवाज़ संभली तो कहने लगा, "वाट ए लौंगिंग फॉर सम वन..."

"मेरा ख्याल है, वह यह भी नहीं जानती थी कि उसे किसके साथ ब्याह करना था...कोई...पता नहीं...कौन...सिर्फ एक ख्याल...बट शी इमेजिण्ड हिम, गौट हरसैल्फ मैरिड..."

"इट वाज़ ए पेनफुल साइट..."

"इट वाज़..." मीनू ने एक गहरी सांस ली, फिर कहा, "पहले मैंने सोचा था कि वह वहां से उठे, बाहर आए, फिर लगा कि वह वहीं ठीक थी, एक सपैल-सा उसने अपने गिर्द लपेट रखा था, वहां से उठने से, टूट जाना था..."

"याद नहीं, किसकी कहानी थी, कहां पढ़ी थी, पर किसीको कुछ लोग कत्ल करना चाहते हैं—वह बहुत ही साधारण और मासूम किस्म का आदमी है, वह सिर्फ इस तमन्ना में सारी ज़िन्दगी गुज़ारता है कि

किसी दिन उसके पास एक छोटी-सी झोंपड़ी होगी, पास में नदी बहती होगी, उसके पास एक खरगोश होगा, दो मुर्गियां होंगी…" लोगों के मारने से पहले उसका एक दोस्त उसे अकेले में पहाड़ी के ऊपर ले जाता है। उसकी पीठ की तरफ खड़ा होकर दूर एक नदी दिखाता है और बताता है कि वहां हम झोंपड़े बनाएंगे…एक खरगोश रखेंगे…दो मुर्गियां खरीदेंगे, फिर मुर्गियों के चूज़े होंगे…ज़िन्दगी का सारा सपना जब उसकी आंखों में साकार हो जाता है, तब उसका दोस्त उसे पीछे से गोली मार देता है…"

"वाट ए काइंड एक्ट…"

मीनू ने चलते-चलते खड़े होकर, जहां तक नज़र जाती थी, बर्फ के पसार को देखा, फिर सुल्तान की ओर। कहने लगी "आई एम ग्लैड आई मैट यू…"

"मीनू…"सुल्तान कुछ कहने लगा था, फिर चुप हो गया।

मीनू ने उसकी ओर देखा। ऐसे, जैसे उसकी चुप का कारण पूछ रही हो। सुल्तान को चुप के बजाय कुछ कहना आसान लगा। कहने लगा, "मैं आर्कीटैक्ट हूं, अभी डिग्री लेकर आया हूं। पहले कुछ दिन इंगलैंड में गुज़ारकर फिर जर्मनी जाना था, डॉक्ट्रेट करने…अभी मैंने अपने हाथों से कोई इमारत नहीं बनाई हैं। अब बनाने का वक्त भी नहीं है। अब सिर्फ…" सुल्तान को अगली बात कहना कुछ मुश्किल लगा, इसलिए सिर्फ इतना ही कहा, "इफ यू एगरी…"

"मैं समझी नहीं, सुल्तान !" मीनू ने कुछ देर ठहरकर कहा।

"ए फैनेटिक आइडिया…" सुल्तान हंस पड़ा। यह उसकी हंसी, शायद उसके गले में अटके हुए संकोच को गले से हटाने के लिए थी, कहने लगा, "जहाज़ में से शायद कोई औज़ार मिल जाएगा, मैं बर्फ की एक कब्र बनाकर…"

मीनू को लगा कि उसकी आंखों में आंसू भी आ गए थे और होंठों पर हंसी भी। कहने लगी, "आई एगरी…पर आर्कीटैक्ट साहब, दो कब्रें

थी, जो अभी तक बाहर थे। मीनू ने देखा कि बाहर खड़े सब लोग एक-एक करके जहाज़ के अन्दर ओट में लौट रहे थे।

मीनू जहाज़ के बाहर आ गई। सुल्तान भी उसके साथ आ गया था, इसलिए मीनू ने एक बार यह ज़रूर कहा, "तुम अन्दर बैठना चाहो तो बैठो।"

पर सुल्तान ने जवाब नहीं दिया तो मीनू ने फिर कुछ नहीं कहा।

यह शाम का उजाला था। सलेटी होने से पहले, कुछ गुलाबी हो गया लगता था; जैसे जाते वक्त धीरे से धरती को गले लगाकर उससे कुछ कह रहा हो।

"आई एम नॉट सॉरी फॉर माईसैल्फ···" मीनू ने बर्फ की वैली को प्यासी आंखों से पिया, फिर सुल्तान की ओर देखकर कहा, "आई वाज़ ओनली ए लिटल सॉरी फॉर हर···"

"दैट वाज़ वैरी टचिंग···" सुल्तान ने ऐसे परे देखा, जैसे उसकी आंखें गीली हो गई हों, फिर आवाज़ संभली तो कहने लगा, "वाट ए लॉगिंग फॉर सम वन···"

"मेरा ख्याल है, वह यह भी नहीं जानती थी कि उसे किसके साथ ब्याह करना था···कोई···पता नहीं···कौन···सिर्फ एक ख्याल···वट शी इमेजिण्ड हिम, गौट हरसैल्फ मैरिड···"

"इट वाज़ ए पेनफुल साइट··"

"इट वाज़···" मीनू ने एक गहरी सांस ली, फिर कहा, "पहले मैंने सोचा था कि वह वहां से उठे, बाहर आए, फिर लगा कि वह वहीं ठीक थी, एक सपैल-सा उसने अपने गिर्द लपेट रखा था, वहां से उठने से, टूट जाना था···"

"याद नहीं, किसकी कहानी थी, कहां पढ़ी थी
लोग कत्ल करना चाहते हैं—वह बहुत ही साधारण
का आदमी है, वह सिर्फ इस तमन्ना में सारी ज़िन

'एलोन और टुगैदर इट मेक्स नो डिफरैन्स…' यह सिर्फ मरते वक्त की बात नहीं थी। जब जीने की बात सामने आती थी तो यही लगता था, अकेले, या किसीके साथ, एक-सी बात है…पर अब इस वक्त…"

"ओह मीनू…" सुल्तान का गला रुंध गया, "कहा तुमने था, पर मैंने भी यह फर्क कभी इस तरह नहीं देखा था।"

"लगता है—एक पल में मैंने ज़िन्दगी के कई बरस जी लिए हैं। ऐसे शायद सचमुच के बरसों में भी यह पल न आता…" मीनू ने सुल्तान की तरफ ऐसे देखा, जैसे उसका वजूद, एक 'पल' का दिखता और जीता वजूद था। और वह उस पल में लीन होना चाहती थी—न उस पल से छोटी, न उससे बड़ी।

"सुल्तान…!" मीनू ने सुल्तान की छाती पर से सिर उठाया, उसके मुंह की ओर देखा, "बर्फ की कब्र पर कुछ लिखा नहीं जा सकता, पर जो लिखा जा सकता हो, मैं लिख दूं—'टू मोमैण्ट्स डाइड हियर'…"

बर्फ की वादी संध्या के पहले अंधियारे में ऊंघ गई थी; पर सुल्तान को लगा, मीनू की बात सुनकर उसने एक बार आंखें झपकाई थीं—शायद जो अक्षर कब्र पर नहीं लिखे जा सकते थे, उन्हें पढ़ने के लिए… यह डूबते सूरज की तीखी अन्तिम लौ थी। सुल्तान ने एक बार फिर मीनू के होंठ चूमे और कहा, "तुम यहां खड़ी हो जाओ। मैं जहाज़ में से कोई हथियार ले आऊं।"

"मैं तुम्हारे साथ चलती हूं।" मीनू शायद इस पल को घटाना नहीं चाहती थी; सुल्तान के साथ-साथ जहाज़ की तरफ लौटी। चलते हुए उसने सुल्तान की बांह पकड़ी और एक बार सिर्फ इतना कहा, "वाट ए मैन…रैडी टु लिव… रैडी टु डाई…"

जहाज़ एक ज़ख्मी दानव की तरह धरती पर पसरा भी लगता था, निढाल भी। अन्दर जितने भी लोग थे, वे उसके किसी-किसी अंग से निकलती सिसकी की तरह लग रहे थे।

बनानी होंगी—एक मेरे लिए भी।"

"सिर्फ एक। दोनों के लिए।" सुल्तान ने अपने होंठ खोले भी, बन्द भी किए, पर कहा और हथेली से माथे को पोंछा। कड़कती ठंड में भी उसके माथे पर पसीने की बूंदें आ गई थीं।

मीनू की आंखें पल-भर को मुंद-सी गई। अपने खून की आवाज़ को जैसे कोई कान लगाकर सुनता है…

"आई लव लाइफ…" मीनू ने आंखें खोलीं, सुल्तान की ओर देखा, "सुल्तान! इस वक्त ज़िन्दगी की किसी बात से भी इनकार शायद ज़िन्दगी की इनसल्ट हो…"

"इट इज़ नॉट ओनली दैट…" सुल्तान ने मीनू का हाथ पकड़ लिया, "इट इज़ मच मोर…"

"आई थिंक इट इज़ मच मोर…" मीनू सुल्तान से ज़्यादा अपने-आपको कहती-सी लग रही थी, "आई नेवर लव्ड ए मैन बट एन एब्सट्रैक्ट आइडिया…यू…परहैप्स…" मीनू के होंठों के अगले शब्द सुल्तान ने अपने होंठों में ले लिए।

बर्फ की वादी खुली हुई कब्र की तरह थी। हवा दोनों हाथों से ऊपर से बर्फ फेंकती इस कब्र को पूर रही थी, पर जिस वक्त सुल्तान की बांहों ने तड़पकर मीनू को अपने साथ लगाया, हवा ठिठककर इस तरह खड़ी हो गई, जैसे कब्र को पूरते हुए उसके हाथ सहम गए हों…

"मीनू…" सुल्तान के होंठों ने यह शब्द मीनू के होंठों में सांस की तरह पिया और फिर उसकी सांसों में सांस की तरह मिलाया।

"नाउ आई एम रैडी टु डाइ ऐनी मिनट…" सुल्तान ने मीनू के बर्फ-से गीले बालों को होंठों से छुआ, जैसे वह गीले बालों को अपनी सांसों से सुखा रहा हो, फिर उसका उतरा हुआ स्कार्फ उसके सिर पर लपेट दिया।

"सुल्तान…" मीनू की आवाज़ गीली थी। शायद उसके सारे मन में भीगी हुई, "आज कुछ देर पहले मरने की बात सोचकर मैंने कहा था,

'एलोन और टुगैदर इट मेक्स नो डिफरैन्स…' यह सिर्फ मरते वक्त की बात नहीं थी। जब जीने की बात सामने आती थी तो यही लगता था, अकेले, या किसीके साथ, एक-सी बात है…पर अब इस वक्त…"

"ओह मीनू…" सुल्तान का गला रुंध गया, "कहा तुमने था, पर मैंने भी यह फर्क कभी इस तरह नहीं देखा था।"

"लगता है—एक पल में मैंने ज़िन्दगी के कई बरस जी लिए हैं। ऐसे शायद सचमुच के बरसों में भी यह पल न आता…" मीनू ने सुल्तान की तरफ ऐसे देखा, जैसे उसका वजूद, एक 'पल' का दिखता और जीता वजूद था। और वह उस पल में लीन होना चाहती थी—न उस पल से छोटी, न उससे बड़ी।

"सुल्तान…!" मीनू ने सुल्तान की छाती पर से सिर उठाया, उसके मुंह की ओर देखा, "बर्फ की कब्र पर कुछ लिखा नहीं जा सकता, पर जो लिखा जा सकता हो, मैं लिख दूं—'टू मोमैण्ट्स डाइड हियर'…"

बर्फ की वादी संध्या के पहले अंधियारे में ऊंघ गई थी; पर सुल्तान को लगा, मीनू की बात सुनकर उसने एक बार आंखें झपकाई थीं—शायद जो अक्षर कब्र पर नहीं लिखे जा सकते थे, उन्हें पढ़ने के लिए… यह डूबते सूरज की तीखी अन्तिम लौ थी। सुल्तान ने एक बार फिर मीनू के होंठ चूमे और कहा, "तुम यहां खड़ी हो जाओ। मैं जहाज में से कोई हथियार ले आऊं।"

"मैं तुम्हारे साथ चलती हूं।" मीनू शायद इस पल को घटाना नहीं चाहती थी; सुल्तान के साथ-साथ जहाज़ की तरफ लौटी। चलते हुए उसने सुल्तान की बांह पकड़ी और एक बार सिर्फ इतना कहा, "व्हाट ए मैन…रैडी टु लिव… रैडी टु डाई…"

जहाज़ एक ज़ख्मी दानव की तरह धरती पर पसरा भी लगता था, निढाल भी। अन्दर जितने भी लोग थे, वे उसके किसी-किसी अंग से निकलती सिसकी की तरह लग रहे थे।

बहुत-से तो शराब के नशे में थे—होश में नहीं थे। मिस्टर सिंह के मुंह से सोते हुए बड़बड़ाने की तरह कुछ निकल रहा था। मिस्टर शर्मा को शायद उल्टियां आई थीं। उसीकी सीट के पास से तीखी गन्ध आ रही थी। गोरे मुसाफिरों ने भी शायद बहुत पी थी, वे सो गए लगते थे। सिर्फ मिस्टर मदान के हाथ में अभी भी उस दिन का अखबार था, जो अन्दर के अंधेरे में पढ़ा नहीं जा सकता था, फिर भी उन्होंने उसे पकड़ रखा था और वे इर्द-गिर्द के सोए हुए लोगों से कहे जा रहे थे, "कल इसी अखबार में हमारी मौत की खबर छपेगी···यहां···पहले सफे पर··· सारी दुनिया अखबार पढ़ेगी···सिर्फ हम नहीं पढ़ेंगे···"

"मैं बाहर खड़ी होकर तुम्हारा इन्तज़ार करती हूं।" मीनू ने सुल्तान से कहा। सुल्तान अन्दर केबिन में चला गया; मीनू जहाज़ से बाहर आ गई।

जिस वक्त सुल्तान जहाज़ से बाहर आया, उसके हाथ खाली थे। खाली हाथों में उसने मीनू को भर लिया, "मीनू, अवर टू मोमैण्ट्स हैव रिफ्यूज़्ड टु डाई···"

"क्या मतलब ?" मीनू ने पूछना चाहा, पर उसकी आवाज़ नहीं निकली, उसके होंठ सुल्तान के होंठों में भिचे हुए थे।

"आई सपोज़ यू आर रैडी टु डाई···" सुल्तान ने एक बार होंठ उठाए, मीनू से पूछा, मीनू ने सिर हिलाकर 'हां' की, और सुल्तान ने फिर पूछा, "ऐंड रैडी टु लिव···"

"हां, सुल्तान···"

"प्लेन का रेडियो खबर भेज नहीं सकता, पर रिसीव कर सकता है। अभी-अभी खबर मिली है कि हमारे जहाज़ को ढूंढ़ा जा रहा है···"

"ओह सुल्तान···!" मीनू ने सुल्तान की छाती पर सिर रख दिया।

सुल्तान को लगा कि मीनू के होंठ बहुत ठंडे हो गए थे। होंठ भी, माथा भी, हाथ भी।

"मीनू..."

"आई वाज़ नॉट एफ्रेड ऑफ डैथ !"

"आई नो।"

मीनू बोली नहीं। आंखों में अनायास ही पानी भर आया था। फिर पता नहीं, सुल्तान की सांसों में कुछ था कि मीनू की अपनी ही सांसों में, मीनू ने सिर उठाया, सुल्तान के मुंह की तरफ देखा, "अब मैं ठीक हूं। आई वाज़ ए लिटिल एफ्रेड ऑफ लाइफ...पर अब ठीक हूं...लेट अस फेस लाइफ..."

रोशनी की एक गर्म लकीर बर्फ की अंधेरी वादी में से गुज़री। गुज़रकर खो गई-सी लगी, पर फिर लौटी...

"सर्च लाइट..." सुल्तान की बांहें आसमान की तरफ भी फैलीं; मीनू की तरफ भी, "दे आर इन सर्च ऑफ..."

"टू मोमैण्ट्स !" मीनू ने कहा और वह सुल्तान की बांहों में एक औरत की तरह सिकुड़ी, एक विचार की तरह फैली और कहने लगी, "आई थिंक एवरी बॉडी इज़ इन सर्च ऑफ टू मोमैण्ट्स..."

बहुत-से तो शराब के नशे में थे—होश में नहीं थे। मिस्टर सिंह के मुंह से सोते हुए बड़बड़ाने की तरह कुछ निकल रहा था। मिस्टर शर्मा को शायद उल्टियां आई थीं। उसीकी सीट के पास से तीखी गन्ध आ रही थी। गोरे मुसाफिरों ने भी शायद बहुत पी थी, वे सो गए लगते थे। सिर्फ मिस्टर मदान के हाथ में अभी भी उस दिन का अखबार था, जो अन्दर के अंधेरे में पढ़ा नहीं जा सकता था, फिर भी उन्होंने उसे पकड़ रखा था और वे इर्द-गिर्द के सोए हुए लोगों से कहे जा रहे थे, "कल इसी अखबार में हमारी मौत की खबर छपेगी···यहां···पहले सफे पर··· सारी दुनिया अखबार पढ़ेगी···सिर्फ हम नहीं पढ़ेंगे···"

"मैं बाहर खड़ी होकर तुम्हारा इन्तज़ार करती हूं।" मीनू ने सुल्तान से कहा। सुल्तान अन्दर केबिन में चला गया; मीनू जहाज से बाहर आ गई।

जिस वक्त सुल्तान जहाज़ से बाहर आया, उसके हाथ खाली थे। खाली हाथों में उसने मीनू को भर लिया, "मीनू, अवर टू मोमेंण्ट्स हैव रिफ्यूज़्ड टु डाई···"

"क्या मतलब ?" मीनू ने पूछना चाहा, पर उसकी आवाज नहीं निकली, उसके होंठ सुल्तान के होंठों में भिचे हुए थे।

"आई सपोज़ यू आर रैडी टु डाई···" सुल्तान ने एक बार होंठ उठाए, मीनू से पूछा, मीनू ने सिर हिलाकर 'हां' की, और सुल्तान ने फिर पूछा, "ऐंड रैडी टु लिव···"

"हां, सुल्तान···"

"प्लेन का रेडियो खबर भेज नहीं सकता, पर रिसीव कर सकता है। अभी-अभी खबर मिली है कि हमारे जहाज़ को ढूंढ़ा जा रहा है···"

"ओह सुल्तान···!" मीनू ने सुल्तान की छाती पर सिर रख दिया।

सुल्तान को लगा कि मीनू के होंठ बहुत ठंडे हो गए थे। होंठ भी, माथा भी, हाथ भी।

थाने में वह इस हादसे की शिकायत दर्ज करवा रही हो···

और फिर 'इन' वाले गेट में से एक मोटर आती, पोर्च में खड़ी होती; नहीं, सिर्फ धीमी हो गई-सी लगती और फिर तेज़ी से 'आउट' वाले गेट से वाहर चली जाती।

दो मंज़िली इमारत के ऊपर वाले बरांडे में खड़ी वे सब लड़कियां एक बार ऐसे चौंक जातीं, जैसे वह मोटर विल्कुल उनके साथ लगकर गुज़री हो; और वे मुश्किल से बाल जितनी दूरी से बची हों।

और वे सब खाली पोर्च की तरफ ऐसे देखतीं, जैसे अभी वहां एक एक्सीडैण्ट होकर हटा था।

रोज़ नियम से शाम के पांच बजे ऐसा होता था। सिर्फ इतवार को छोड़कर।

यह सारी कहानी अगर एक प्राचीन ढंग से आरम्भ करनी हो तो ऐसे कहना चाहिए—एक था दफ्तर, एक था बॉस, और उसकी पांच स्टैनो थीं···

दफ्तर बहुत बड़ा था, कई सैक्शन थे, हर सैक्शन का एक बॉस था, पर अनआफिशियल ज़बान में सैक्शन था तो वह, बॉस था तो वह···

वह जिस तरफ से गुज़र जाता, हवा महक जाती। स्टाफरूम का टेलीफोन खड़कता और वह जिस स्टैनो लड़की को अपने कमरे में काम के लिए बुला रहा होता, वह लड़की धड़क जाती।

फाइल कोई भी होती, पर हर फाइल पर जैसे गैबी अक्षरों में 'अर्जेण्ट' लिखा होता। हुक्म अभी बॉस के होंठो पर ही होता, कि लड़कियों के हाथों से तामील हो जाती।

बॉस का अनआफिशियल नाम 'बादशाह' सलामत था और पांचों स्टैनो लड़कियों के लिए, उनके नामों का कोडवर्ड था—कोर्ट-डांसर्ज़।

और जैसे कोर्ट-डांसर्ज़ की निपुणता में सिर्फ उसकी कला नहीं शामिल होती, उसका वेश और उसका वतीरा भी शामिल होता है, हर स्टैनो लड़की दफ्तर आने के लिए बहुत संवरकर आती, सादा सूती

पांचों कुंआरियां

ठीक पांच बजे एक चील आती थी, उनकी आंखों पर झपटती थी, और फिर उनके सामने पड़ा हुआ पनीर का टुकड़ा लेकर चली जाती थी।

उन सबकी आंखें रोज़ खरोंची जातीं।

"वह आ गई?" एक जनी तेज़ी से बरांडे में आती हुई पूछती।

"बस, अभी आती ही होगी।" जो बरांडे में पहले आ चुकी होती, वह जवाब देती और साथ ही 'इन' वाले गेट की ओर वह ऐसे देखती, जैसे आंखों से उस गेट को बन्द कर रही हो।

तीसरी चुपचाप बाहर वाली सड़क को ऐसे घूरकर देखे जाती, जैसे हैरान हो रही हो कि उसने कल रात सपने में यह सड़क तोड़ी थी, पर आज यह फिर उसी तरह साबुत है···

चौथी सड़क की ओर नहीं, पोर्च की उन सीढ़ियों की ओर देखे जाती, जहां खड़े किसीका चाहे कुछ और नहीं दिखता था, सिर्फ बूट दिखते थे।

पांचवीं का कद ज़रा छोटा था, उसे पोर्च में नीचे खड़े हुए किसीके सिर्फ बूट नहीं, उससे ऊपर उसकी पतलून की मोहरियां भी दिखती थीं। और फिर वह एक पल आसमान की ओर ऐसे देखती, जैसे किसी

थाने में वह इस हादसे की शिकायत दर्ज करवा रही हो···

और फिर 'इन' वाले गेट में से एक मोटर आती, पोर्च में खड़ी होती; नहीं, सिर्फ धीमी हो गई-सी लगती और फिर तेज़ी से 'आउट' वाले गेट से वाहर चली जाती।

दो मंज़िली इमारत के ऊपर वाले वरांडे में खड़ी वे सव लड़कियां एक वार ऐसे चौंक जातीं, जैसे वह मोटर विल्कुल उनके साथ लगकर गुज़री हो; और वे मुश्किल से वाल जितनी दूरी से वची हों।

और वे सव खाली पोर्च की तरफ ऐसे देखतीं, जैसे अभी वहां एक एक्सीडैण्ट होकर हटा था।

रोज नियम से शाम के पांच वजे ऐसा होता था। सिर्फ इतवार को छोड़कर।

यह सारी कहानी अगर एक प्राचीन ढंग से आरम्भ करनी हो तो ऐसे कहना चाहिए—एक था दफ्तर, एक था बॉस, और उसकी पांच स्टैनो थीं···

दफ्तर बहुत वड़ा था, कई सैक्शन थे, हर सैक्शन का एक बॉस था, पर अनआफिशियल ज़वान में सैक्शन था तो वह, वॉस था तो वह···

वह जिस तरफ से गुज़र जाता, हवा महक जाती। स्टाफरूम का टेलीफोन खड़कता और वह जिस स्टैनो लड़की को अपने कमरे में काम के लिए वुला रहा होता, वह लड़की धड़क जाती।

फाइल कोई भी होती, पर हर फाइल पर जैसे गैबी अक्षरों में 'अर्जेण्ट' लिखा होता। हुक्म अभी वॉस के होंठो पर ही होता, कि लड़कियों के हाथों से तामील हो जाती।

वॉस का अनआफिशियल नाम 'वादशाह' सलामत था और पांचों स्टैनों लड़कियों के लिए, उनके नामों का कोडवर्ड था—कोर्ट-डांसर्ज़।

और जैसे कोर्ट-डांसर्ज़ की निपुणता में सिर्फ उसकी कला नहीं शामिल होती, उसका वेश और उसका वतीरा भी शामिल होता है, हर स्टैनो लड़की दफ्तर आने के लिए वहुत संवरकर आती, सादा सूती

धोतियों के वल भी इनके गिर्द छटक जाते। उनका उठना, बैठना, चलना एक सलीका वन जाता और वॉस के वुलावे पर जिस लड़की को वॉस के कमरे में जाना होता, एक वार वह अपने पर्स में पड़ा हुआ छोटा-सा शीशा भी ज़रूर ऐसे ध्यान से देखती, जैसे अपनी फाइल के कागज़।

वॉस को जिन कागज़ों पर दस्तखत करने होते, करता। अगले काम की तफसील वताता और फिर फाइल दोवारा लड़की के हाथ में पकड़ाता, जव उसके काम की निपुणता के लिए एक वार सामने देखता और कहता 'गुड !' तो लड़की को वह दिन सार्थक हो गया लगता।

किसी लड़की की सर्विस को पांच वरस हो गए थे, किसीको छः, सात वरस। न लड़कियों को दफ्तर से शिकायत थी, न दफ्तर को लड़कियों से। सिर्फ लड़कियों की अगर कोई चुप या वोलती मांग थी तो यह कि उन्हें इस सैक्शन में से वदला न जाए।

वॉस के काले वालों में इस वर्ष सफेद वालों की एक धारी आ गई थी, पर लड़कियों के शब्दों में यह 'ग्रेस' थी। वाकी उसके नाम उसी तरह कायम थे—रोमन फिगर, ग्रीक व्यूटी, एटरनल यूथ, एंजल फेस, लिविंग गौड।

यह एक 'सपैल' था, जो लड़कियों के गिर्द सात घंटे लिपटा रहता था (लंच-आवर भी अक्सर उसमें शामिल होता था, क्योंकि ऐक्सेस वर्क को लड़कियां इस वक्त करती थीं।) सिर्फ जव घड़ी की सुई पांच के नज़दीक पहुंचने लगती तो इस सपैल के टूटने का वक्त आ जाता था··· पूरे पांच वजे वॉस की वीवी मोटर में आती थी और वॉस को मोटर में विठाकर ले जाती थी। और काली मोटर का रंग लड़कियों को चील के पंखों की तरह लगता था···

पहले-पहल लड़कियों ने सिर्फ मोटर के रंग को चील के पंखों के साथ जोड़ा था, पर फिर उनको यह ज़वान 'फाल्स कल्चर' की ज़वान लगी थी और उन्होंने एक-दूसरी से वातें करते हुए सीधी ज़वान में इसको वॉस की वीवी से जोड़ दिया था।

बीबी ठीक पांच बजे एक चील की तरह आती थी, सब लड़कियों की आंखों पर झपटती थी और उनका सारे दिन की मेहनत से कमाया हुआ—उनका 'हक' उनके हाथों से छीनकर ले जाती थी···

इस 'हक' को पहले उन्होंने पनीर के टुकड़े से जोड़ा था, पर एक दिन एक लड़की ने इसे 'वैजेटेरियन टाक' कहा था और उन सबने इसे—मांस के टुकड़े के साथ जोड़ दिया था। सिर्फ हंसी में भी किसी लड़की ने दूसरी लड़की से यह इकबाल नहीं किया था कि बॉस की बीबी को चील और बॉस को मांस का टुकड़ा कहकर, उन सबके जिस्म में कुछ तेज़-सा और कुछ गर्म-सा मचल जाता था···

सपैल रोज़ शाम को पांच बजे टूटता था, लड़कियां जब अपने-अपने घर जाने के लिए बस-स्टैण्ड पर खड़ी होतीं, उन्हें अचानक अपना-आप बहुत थक गया लगता। पर यह सपैल भी शायद सूरज की तरह था। रोज़ शाम को डूबता था, रोज़ सुबह चढ़ता था और लड़कियां जब सुबह साढ़े नौ बजे अपने-अपने बस-स्टैण्ड पर आतीं तो उन्हें अचानक अपना-आप बहुत सजग हो गया लगता।

ज़िन्दगी का यह पैटर्न कहा या अनकहा सब लड़कियों को कबूल-सा हुआ लगता था कि अचानक एक हादसा हो गया। बॉस की बीबी मर गई। लड़कियों ने खबर सुनी, एक-दूसरी को सुनाई, फिर एक-दूसरी से पूछा, जैसे वे बता-बताकर और पूछ-पूछकर इस खबर की तसदीक कर रही हों।

बीबी पिछले एक हफ्ते से बॉस को लेने नहीं आती थी। पता लगा कि बीमार है, पर लड़कियां रोज़ पांच बजे बाहर वाली सड़क की ओर ऐसे देखतीं, जैसे वह आज भी आई, बस, आई। अब मौत की खबर सुन ली थी, पर लड़कियों को यकीन नहीं होता था। वह अब भी पांच बजे खाली सड़क की ओर देखती थीं और उन्हें लगता था, वह अभी आई, बस, आई।

पर कुछ दिन और गुज़र गए तो लड़कियों के मन में एक यकीन-सा रेंगने लगा कि वह सचमुच मर गई थी। बॉस की मोटर अब सारे दिन नीचे एक कोने में खड़ी रहती थी। पांच बजे वह कमरे में से निकलता था, सीढ़ियां उतरता था, पर वह नीचे पोर्च में खड़ा नहीं होता था। बाहर कोने में खड़ी मोटर का दरवाजा खोलता था और चला जाता था।

लड़कियां अभी भी रोज़ ठीक पांच बजे बाहर बरांडे में खड़ी होती थीं, चुपचाप एक विदा-सी कहती थीं और फिर धीरे-धीरे सीढ़ियां उतरतीं बाहर बस-स्टैण्ड की ओर चली जाती थीं। पर बरसों से बना हुआ ज़िन्दगी का यह पैटर्न, जो अब भी बाहर से उसी तरह दिखता था, अन्दर से कहीं बिल्कुल टूट गया था···

'रोज़ चील की तरह उड़ती आती थी, हमारी हाय लग गई!' जैसे मज़ाक कुछ दिन चलते रहे थे, पर फिर वे भी खत्म हो गए थे।

और लड़कियों को, जो आज तक नहीं लगा था, लगा कि उन्हें असली ईर्ष्या और किसीसे नहीं थीं, सिर्फ एक-दूसरी से थी।

अब एक लड़की अगर बॉस के कमरे में फाइल लेकर जाने लगती, तो बाकी की चारों उसकी ओर ऐसे तकतीं, जैसे उसे आज उन चारों के साथ कोई धोखा करना है।

जो लड़की जितनी देर बॉस के कमरे में होती, बाकी की चारों लड़कियों को लगता कि वह वक्त बीत ही नहीं रहा है।

और जब कोई लड़की बॉस के कमरे से वापस आती, बाकी की चारों उसके मुंह की तरफ ऐसे देखतीं, जैसे वे किसी चोरी का सुराग लगा रही हों।

और पांचों जब सुबह दफ्तर में आतीं, एक-दूसरी की ओर देखतीं, और हर 'एक' को लगता कि 'दूसरी' आज पहले से बहुत स्मार्ट बनकर आई है।

"यह साड़ी तुमने कब खरीदी है?"

"यह तुम्हारा पर्स मैंने पहले कभी नहीं देखा।"

"तेरे इस ब्लाउज़ में मुश्किल से आधा मीटर लगा होगा, पीठ की तरफ तो कपड़ा ही नहीं है, सिर्फ एक हुक-सा है..."

वे पहले से ज़्यादा एक-दूसरी की तारीफ करतीं, कभी किसीके नये पर्स की, कभी किसीके नये हेयर कट की, पर हर शब्द की मिठास में एक कड़वाहट मिल गई थी।

"डोंट वरी, आई वांट हुक हिम।" कभी कोई तीखा-सा जवाब दे देती, जिसके ब्लाउज़ की नई काट को सराहा होता। ब्लाउज़ के हुक वाली बात बॉस को हुक करने तक अपने-आप ही पहुंच जाती।

"डोंट बी एंगरी डियर डैविल!" दूसरी कभी हंसी छोड़ती और कभी उलटकर वार कर देती—"हाय, मैं मर जाऊं इस मासूमियत पर!"

माहौल गर्म हो गया था। कभी धुंधलाता-सा भी लगता था, पर अन्दर से। बाहर पहले से बहुत चमक उठा था।

लड़कियां चमक उठी थीं—लिबास में भी और हाज़िरजवाबी में भी। काम एक तलखी से वे आगे भी करती थीं, पर अब उन्हें काम का जैसे जनून चढ़ गया था। पहले वे सिर्फ बॉस को रिझाने के लिए करती थीं, अब वे एक-दूसरी को नीचा दिखाने के लिए भी करती थीं।

पर मुश्किल से ऐसे छह महीने गुज़रे।

और सारे दहकते माहौल पर एक कोहरा पड़ गया। सुना कि बॉस ने एक अंग्रेज़ लड़की से व्याह कर लिया था।

लड़कियों के हाथों में पकड़ी हुई फाइलें अचानक कापीं और फाइलों के लाल, हरे और पीले रंग मेज़ पर स्याही की तरह बिखर गए।

उस दिन शाम को ठीक पांच बजे खाली सड़क से एक कार आई, पोर्च में खड़ी हुई, सुनहरी बालों वाली एक लड़की कार में से उतरी,

उसने बॉस के हाथ में हाथ डाला और फिर कार में बैठकर कार चला दी।

"दिस टाइम इट इज़ ए फारेन कल्चर..." एक लड़की ने धीरे से कहा, पर किसीने हुंकारा नहीं भरा। सबको लगा कि आज हुंकारा देने के लिए भी उनमें हिम्मत नहीं रह गई थी।

धीरे-धीरे सीढ़ियां उतरती और बाहर वाले बस-स्टैण्ड की तरफ जातीं, आज उन सारी लड़कियों को लग रहा था कि वे बूढ़ी हो गई हैं।

कसब का ईमान

हथेली पर विठा रखे वटेर को उसने जाली की रंगीन थैली में वंद किया और कूची पर हथौड़ी की चोट मार उसकी धार वनाने लगा तो एकाएक मेरे मुंह से निकल गया, "मियांजी ! यह शौक भी पाल रखा है ?"

"अल्ला मियां ने दो शौक वख्शे हैं, मेम साहव ! एक अपने कसव का और एक इन वटेरों का। अंग्रेज़ की कोठी में भी काम किया तो वटेर हाथ में पकड़कर। महाराजा पटियाला, महाराज अलवर, महाराज कपूरथला...वड़े-वड़े शौकीनमिज़ाज़ मेरा कसव भी मान गए और मेरा शौक भी।" उसने कहा और कूची को हाथ में पकड़े जव वह उठा तो उसकी वूढ़ी पीठ पर तांवई जवानी चमक उठी।

"यह शौक भी खूव है !" मैं उसके कसव के शौक की नहीं, वटेरों के शौक की ही वात कर रही थी।

"क्या वात है इस शौक की ! एक वार लखनऊ की एक तवायफ को महाराजा पटियाला ने शिमले में वटेर लड़ाने के लिए कहा। कह तो दिया, दस हज़ार की शर्त भी लग गई, पर वाद में महाराज सोच में पड़ गए कि एक तवायफ के वटेर से उनका वटेर हार गया तो लोग क्या कहेंगे; पर वात मुंह से निकल गई थी..."

"फिर ?"

"फिर क्या मेम साहब ! नसीम बानो नाम था उस तवायफ का। उसने लाहौर से बाईस सौ का बटेर मंगवाया और महाराज को कहलवा भेजा"'मैं नाचीज़ बन्दी आपका मुकाबला नहीं कर सकती, पर यह शौक-इश्क है। बटेरों की लड़ाई में हर कोई बराबर है, इसलिए इस लड़ाई के दौरान महाराज भी उसी जगह बैठेंगे, जिस जगह यह बांदी बैठेगी। महाराज के लिए खास कुर्सी नहीं बिछाई जाएगी…"

सोच रही थी, हर कसब का एक ईमान होता है। बेशक वह बटेरों की लड़ाई का कसब ही क्यों न हो।—पूछा, "महाराज मान गए क्या ?"

"यह ईमाने-कसम है, मेम साहब ! उन्होंने सुनकर एक बार तो आंखें झुका लीं, पर मान गए।"

"फिर जीत किसकी हुई ?"

"महाराज के बटेर की। तवायफ का बटेर भी खूब लड़ा, पर जब बहुत जख्मी हो गया तो मैदान छोड़कर भाग गया। बीस टांके लगाने पर उसके ज़ख्म सिले थे। पर हार तो हार थी। हार ज़ख्मों को नहीं गिनती।"

"उस तवायफ ने महाराज को दस हज़ार रुपये भी दिए ?"

"बिल्कुल दिए।"

"और आपका बटेर मियांजी ? यह कितने का होगा ?…"

"बटेर की उतनी ही कीमत, जितनी वह जीत के लाए। मेरा यह बटेर सिर्फ दो सौ का है। जवानी के दिनों में बड़े कीमती बटेर भी रखे, मुश्क खिलाकर पाले थे। मुश्क जानती हैं ना मेम साहब ? हिरन की नाभि में से निकली मुश्क बड़ी कीमती खुराक होती है…" उसके हाथ काम में लगे थे। लग रहा था—दो हाथ, दो कामों के लिए बने थे—एक बटेर पकड़ने के लिए, एक रंग-रोगन की कूची पकड़ने के लिए।

किताबों की अलमारी में से उसने किताबें निकालकर एक मेज़ पर

टिका दी थीं और अखवार के पन्ने खोल कितावों को छींटों से वचाने के लिए वह उन्हें ढक रहा था।

घंटी वजी, देखा, कोई दो नये लेखक मिलने आए थे। वाहर वाला वरामदा कली हो चुका था, इसलिए मिलने वालों से मिलने के लिए वहां कुछ मूढ़े और कुर्सियां रखीं। भीतर वाले कमरे की वैसे ही चिन्ता नहीं थी—मियांजी की शोहरत सुन रखी थी कि घर की चावी मियांजी को देकर कोई हफ्ते-भर के लिए वाहर चला जाए और लौटकर भरे घर की चावी वापस ले, तो घर की चीज़ें भी सलामत होंगी और सारा घर भी चमका-पुता होगा। न तकलीफ न खौफ।

मिलने वालों में से एक साहव पंजावी साहित्य की कुछ चुनी हुई कविताओं और कहानियों का संग्रह कर रहे थे, इसे लेकर उन दोनों के वीच एक वहस छिड़ी हुई थी कि किन लोगों को इसमें शामिल किया जाना चाहिए और किन लोगों को नहीं। उन्हें यह भी चिन्ता थी कि जिन लेखकों के नामों के साथ छोटे-वड़े पुरस्कारों के लेवल चिपके हुए थे, वे किस गिनती में आते हैं।

हंसी-सी आ गई, वाहर वरामदे में वैठों को मियांजी याद आ गए—मियांजी नहीं, मियांजी के वटेर, कि कोई वटेर दो सौ का होता है, कोई वाईस सौ का, कोई दस हजारी भी···

एक कसकसी उठी—इनाम और पुरस्कार वांटने वाले शायद वटेरों की लड़ाई का शौक रखते हैं···और कोई लेखक एक हज़ारी वन जाता है, कोई पांच हज़ारी, कोई आठ हज़ारी···और कोई सिर्फ ज़ख्मी और लहुलुहान···

लेखकों से वात चलती लेखकों के ईमान पर आ गई थी। मिलने को आए सज्जन वता रहे थे कि इस वार कान्फ्रेन्स में जो पेपर पढ़ा गया·· इस वार जो यूनिवर्सिटी में पेपर पढ़ा गया···इस वार··वातें वहुत थीं, इस साल की भी, पिछले सालों की भी, पर ज़िकर एक ही था कि फलां के पेपर में पहले से ही पता रहता है कि फलां का नाम नहीं

होगा, और फलां के पेपर में खामख्वाह फलां का ज़िकर रहता है…

मियांजी फिर याद आए और उनकी ज़बानी सुनी हुई लखनऊ की तवायफ की बात—यह शौके-इश्क है, इसलिए इस लड़ाई के दौरान महाराज भी उसी जगह बैठेंगे, जिस जगह यह बांदी बैठेगी। महाराज के लिए खास कुर्सी नहीं बिछाई जाएगी। यह ईमाने-कसब है…

सो बटेरों की लड़ाई देखने वालों का भी ईमाने-कसब होता है, पर…

'पर' का इतिहास किसी भी अदब के इतिहास से बड़ा है, इसलिए इसके बारे में जितना भी सोचो, आखिर में इसके सामने चुप का फुल-स्टाप रखना पड़ता है…

मैं भी चुप थी, वे भी चुप हो गए।

वे चले गए तो भीतर के कमरे में गई। उस वक्त मियांजी अपने शागिर्द से कह रहे थे—"दस सेर चूने में ज़िक आध सेर से कम न हो, ध्यान रखना।"

और फिर मियांजी मुझसे मुखातिब हो कहने लगे—"मेरे हाथ की फेरी कूची पर बेशक रोज़ झाड़ू लगाइए, अगर दीवारें रोज़ ना चमक उठें तो मैं देनदार हूं।"

सोच रही थी—क्या मियांजी की वह कानशस इस ज़माने में भी है जो किसीकी देनदार होती है? कि मियांजी ने कहा—"ज़िक महंगा है, इसलिए सब कारीगर ज़िक बचाते हैं, काम चलता किया, पैसे जेब में डाले और खैर सल्ला। इस बात की कोई फिकर नहीं कि काम की शोहरत भी कोई चीज़ होती है। सब कहते हैं, रोज़गार तो किस्मत का यह भी दुरुस्त है, पर किस्मत से इन्साफ मांगने की जगह अपने कसब से क्यों न मांगें?"

सांसों में एक तपिश-सी आ गई। कसब कसब है, बेशक कूची का हो या कलम का। बात तो कसब के ईमान की है…

"सुनो लड़के! लोहे की इस अलमारी के साथ पीठ लगाओ।"

मियांजी ने शागिर्द से कहा। उसने पीठ लगा दी तो मियांजी ने हुक्म दिया—"ऐसे सीधे खड़े होकर नहीं, ज़रा झुक, कर और पांव पर ज़ोर डालते हुए।" उसने ऐसा भी कर लिया तो मियांजी ने कहा—"अब ज़ोर लगाओ, ज़मीन में पांव गड़ा लो और इस अलमारी को धकेलकर पीछे कर दो।"

"मेरी तो कमर टूट जाएगी, मियांजी," जवाब मिला तो मियांजी तिलमिलाकर हंस पड़े—"अबे टूटती नहीं, बल्कि जवानी में भी झुकने लगी है, इस बहाने यह सीधी हो जाएगी..."

जवान कमर हार गई थी, पर मियांजी की बूढ़ी कमर नहीं हारी थी। उन्होंने उस लड़के को खींचकर अलग किया, और अपनी पीठ के दो धक्कों से अलमारी को दीवार से लगा दिया।

"इस तरफ को यह अलग-सा रंग क्या है मियांजी?" मेरा ध्यान छत के एक कोने में गया।

"अभी आधे घंटे तक देखना मेम साहब।"

'मेम साहब' संबोधन अच्छा नहीं लग रहा था, पर मियांजी को टोक भी नहीं सकती थी। चुपचाप उस कोने की तरफ देखती रही, और फिर कहा—"प्लास्टर ऑफ पैरिस दिखाई देता है..."

"बूझ लिया? सुबह आते हुए डेढ़ किलो लाया था। कल देख गया था कि उस कोने में सीलन आ गई है। भले ही यहां मैं चूने के छः कोट करता, सीलन का दाग नहीं जाने का था। बस, एक कोट प्लास्टर ऑफ पैरिस का, और फिर दो कोट चूने के, मजाल है अगर फिर कोई दाग रह जाए..."

"मान लिया मियांजी! आप कारीगर हैं।"

"मेम साहब! अगर काम देखना है, तो हुक्म कीजिए। किसी जमाने में चूने को पानी में नहीं, दूध में भिगोकर काम किया करता था।"

"चूने को दूध में भिगोकर?"

"बस, फिर यह मत पूछिए कि दीवारें कैसी हो जाती हैं, आदमी के गोश्त की तरह चिकनी हो जाती हैं…"

"मियांजी, दूध खालिस कि पानी वाला, जैसा आजकल मिलता है?" मुझे हंसी आ गई।

मियांजी के तांबई चेहरे पर जैसे एक चमक आ गई—"मेम साहब! मेरी हर बात खालिस से शुरू होती है, दूध भी खालिस और कमाई भी खालिस।"

मियांजी किताबों वाली अलमारी के शीशे साफ कर चुके थे, इसलिए अलमारी में से निकाली किताबें फिर से अलमारी में रखने के लिए जब कुछ किताबें हाथ में उठाईं, उनमें एक डिक्शनरी भी थी। सोचा, कह दूं कि मियांजी, वक्त आ गया है कि आपके इस 'खालिस' शब्द का मतलब समझने के लिए लोगों को डिक्शनरी देखनी पड़ती है, पर कहा नहीं।

मियांजी कह रहे थे—"फिर उस चूने में सिर्फ़ दूध नहीं, खांड भी पड़ती थी। चूना गर्मी से मर जाता है, पर खांड उसे मरने नहीं देती। पर ये किसी और ज़माने की बातें हैं, अब तो चाय के लिए भी चीनी नहीं मिलती।"

और मियांजी ने घूरकर कमरे की एक दीवार की तरफ देखा। पहले दीवार की तरफ, फिर अपने शागिर्द की तरफ—

"अहमद जान! इस दीवार पर रेगमार लगा दिया?"

'हां जनाब।"

"तुम्हारा क्या ख्याल है, तुम सरकारी महकमे में काम करते हो?"

"नहीं जनाब।"

"फिर यह चोरी किस तरह छुपेगी? यह देखो—अगर तुमने आंखें खोलकर रेगमार लगाया होता, तो यह दाग इस तरह रहता? तुम सरकारी मुलाज़िम नहीं, मेरे मुलाज़िम हो। मेरे मुलाजिम को चोरी नहीं हज़म होती।"

और फिर मियांजी ने दूसरे कमरे की एक दीवार की तरफ देखा। उसी तरह पहले दीवार की तरफ फिर अपने मुलाजिम की तरफ···

"वह सामने क्या दिखाई देता है मियां जमूरे ?"

"स्टूल से उतरते वक्त मेरा हाथ लग गया था, मियांजी।"

"पुती हुई दीवार पर तूने मैला हाथ लगा दिया ?"

"मैं अभी फिर स्टूल पर चढ़कर कूची फेर दूंगा।

"नहीं, स्टूल पर चढ़कर नहीं।"

"वैसे तो मेरा हाथ नहीं पहुंचेगा।"

"मुझे दो कूची।"

"आपका हाथ भी नहीं पहुंचेगा।"

"तुम नीचे घोड़ी बनो, मैं तुम्हारी पीठ पर पांव रखकर हाथ पहुंचा लूंगा।"

और मियांजी ने जब सचमुच उसका बाजू पकड़ उसे फर्श पर उल्टा बिठा दिया और उसकी पीठ पर पांव रखने लगे, तो मैंने आगे बढ़ मियां की कूची पकड़ ली—

"मर जाएगा, मियांजी !"

मियांजी ने एक पांव का थोड़ा-सा भार उसकी पीठ पर डाल दिया था और यह एकदम जवान लड़का पांव के भार के नीचे हांफ-सा रहा था। मियांजी ने पांव उठा लिया और हंस पड़े—"पुती हुई दीवार पर मैला हाथ लगाने की सज़ा तो यही चाहिए थी···ये कमबख्त अपने कसब का ईमान ही नहीं समझते···"

किताबों की अलमारी में किताबें लगा रहा मेरा हाथ रुक गया—सामने कम से कम पांच सौ किताबें थीं···पांच सौ कलमें···पर कसब का ईमान···?

और किताबों से भरी अलमारी भी आज खाली-खाली लग रही है···

मिट्टी की ज़ात

छबीली नाइन ने अपने कच्चे खुरे पर एक चौड़ा पत्थर रखा हुआ था। इस पत्थर पर बैठकर वह बर्तन भी साफ कर लेती थी, कपड़े भी पछार लेती थी, अपनी एड़ियां भी रगड़ लेती थी, और साग-सब्ज़ी काटते समय जब चाकू ठीक तरह न काटे, तो उसे भी उसपर रगड़कर तेज़ कर लेती थी। और अपने कच्चे खुरे के पत्थर की तरह उसने भी कोई दर्द अपने दिल में धर रखा था, जहां वह वर्षों से जीवन के जूठे दिनों को मांज रही थी, मैली सांसों को पछार रही थी, मुहब्बत की फटी हुई एड़ियों को रगड़ रही थी, और अपने विवाह के कुंद चाकू को रगड़-रगड़कर तेज़ कर रही थी।

कहते हैं कि छबीली को अपनी भरी जवानी में एक रासलीला करने वाले से मुहब्बत हो गई थी। वह कितने-कितने दिनों के लिए किसी सीता का राम बन सकता था, किसी दमयन्ती का नल बन सकता था, किसी कोकिला का रसालू बन सकता था, पर वह कुछ क्षणों के लिए भी इस छबीली का कुछ नहीं बन सकता था; क्योंकि 'सीता-राम' का नाटक खेलने के बाद 'नल-दमयन्ती' का नाटक खेला जा सकता है, 'कोकिला-रसालू' का नाटक खेला जा सकता है, कोई भी नाटक खेला जा सकता है, पर विवाह का नाटक खेलने के बाद इस जीवन में कोई भी नाटक नहीं खेला जा सकता। जो बराती इस नाटक के दर्शक बन

कर आते हैं, एक औरत और मर्द का तमाशा देखते हैं, दिल भरकर तालियां वजाते हैं, फिर इस नाटक के पात्रों को छोड़कर पंडाल खाली कर जाते हैं, और इस नाटक के दोनों पात्रों को सारी आयु यह नाटक खेलना पड़ता है ! छबीली अपने विवाह का नाटक खेलने को तरसती रही। और यह रासलीला वाला एक दिन हारकर साधु हो गया।

छबीली कई वर्ष अपने साधु की प्रतीक्षा करती हुई कौवे उड़ाती रही। फिर कौवों की तरह उसके वालों का काला रंग भी उड़ गया। पर छबीली नाइन को अभी भी अपने साधु की प्रतीक्षा थी। उसने वहुत शुद्ध मेहंदी, जो वह अपने गांव की जवान लड़कियों के सगुन करते समय उनकी हथेलियों पर लगाया करती थी, अपने बालों में भी लगानी शुरू कर दी थी। उसके सिर के सोचों का रंग भी लाल था, और उसकी ज़ुल्फें भी लाल हो गई थीं। आंखों में काजल की धारी ज़रूर लगाया करती थी, और फिर रोकर वह आप ही उसे निकाल भी दिया करती थी।

सारी आयु छबीली नाइन गांव के लड़के-लड़कियों के सम्बन्ध कराती रही थी, जातें मिलाती रही थी। और अव उसे यह महसूस होने लगा था कि आदमी की सारी जातें झूठी हैं, बनावटी हैं। अच्छे-भले ब्राह्मण की लड़की से क्षत्रिय के बेटे का विवाह हो जाए, तो उनके घर जो वेटा पैदा होगा, वह नाककटा होगा अथवा पांवकटा।

और छबीली नाइन का जैसे-जैसे आदमी की जातों से विश्वास हटता गया, मिट्टी की जातों में विश्वास होता गया। वस, यदि कोई जात सच्ची है तो वह मिट्टी की जात है। छबीली नाइन किसी लड़के के उवटन मलती, किसी लड़की के तेल लगाती, किसी लड़की का सिर गूंथती, और प्रायः ही यह सोचती रहती, 'चिकनी मिट्टी, रेतीली मिट्टी, कंकरीली मिट्टी, खंगराली मिट्टी, काली मिट्टी, लाल मिट्टी, पीली मिट्टी—इस मिट्टी की कितनी जातें हैं ! जिस मिट्टी में कपास उगती है, वस, कपास ही उगती है; जिस मिट्टी में अंगूर पकते हैं, वहां अंगर

ही पकते हैं। ये बातें कितनी सच्ची हैं!'

और छबीली के ये सब सोच एक दिन कसौटी पर चढ़ गए जब गांव के खत्रियों की लड़की बालो का जाटों के बेटे नन्दे से प्यार हो गया। 'खत्रेटी बालो और जटेटी नन्दा'। दिनों में ही यह बात गांव की दन्तकथा बन गई। और फिर मूले खत्री ने अपनी लड़की की साथ के गांव में कहीं अपनी जात-बिरादरी में ही सगाई कर इस कथा को दांतों से पीसकर रख दिया। अब थोड़ी ही देर में छबीली नाइन को बालो को विवाह की मेहंदी लगाने जाना था।

नन्दे के खेत छबीली के घर के पीछे की ओर थे। गोबर-तूड़ी मिलाते और पीछे की दीवार पर उपले लगाते छबीली ने कई बार बालो और नन्दे को खेतों के आंचल में बातें करते देखा था। और वह सोचती रही थी कि इस दुनिया के सुनार सोने में तांबा मिलाते हैं, और दुनिया उनको कुछ नहीं कहती, पर जब इस दुनिया के प्रेमी सोने में सोना मिलाते हैं, तो दुनिया उनके पीछे पड़ जाती है। और छबीली देखती कि नन्दे बालो की बातों को सोने की मोहरों की तरह चुनता और संभालता रहता, और बालो नन्दे की बातों को सोने की टुकड़ियों की तरह ढकती और लपेटती रहती। और फिर सांसों के सेंक के साथ यह सारा सोना पिघल जाता। मोहरें और टुकड़ियां एक-दूसरे में घुल जातीं। फिर राह चलते चोरों की आंखें फट जातीं, दिलों का पिघला हुआ सोना घबराकर जम जाता, सोने की ईंट बन जाती, और यही सोने की ईंट दोनों प्रेमियों के माथे पर लग जाती।

विवाह वाले घर से छबीली नाइन को दो बार बुलावा आ चुका था। अपने घर के दरवाज़े की तरह उसने अपने सभी सोच भी बन्द कर दिए। कातिक का मीठा-मीठा शीत उतर आया था। उसने माथे पर गिर रहे लाल बालों को हाथ से पीछे को किया और सिर ढांप लिया। छबीली ने दस कदम ही उठाए थे कि हवा का एक झोंका आया। उसका कपड़ा सिर से उतर गया। लाल बालों की एक लट उसके माथे

पर आ गिरी, और उसके दिमाग में एक रंगीन विचार आया, 'एक मिनट बेचारे नन्दे का मुंह तो देख आऊं।...'और वह अपने घर के पीछे नन्दे के खेत की ओर चल पड़ी।

कुएं पर पुरवट चल रही थी। नन्दे जगत पर नहीं था। उसका एक साथी वहां बैठा था, और उसके मुंह से कुएं की तरह कुछ बोल निकल रहे थे।

"हीर ने कहा, योगी झूठ कहता है।
कौन रूठे हुए यार को मनाता है ?
बिछड़े और मरे हुए को कौन मिलाए ?
वैसे ही लोग धीरज देते हैं।"

छबीली का दिल भर आया। मरे और बिछड़े हुए बराबर हो जाते हैं ? और छबीली ने देखा कि नन्दा सिर नीचा किए पानी की आड़ पर बैठा हुआ था। उसकी आंखों से गिरते आंसू बह रहे पानी में मिल रहे होंगे। छबीली ने सोचा कि यह पानी जिस खेत में आएगा, उसकी फसल से आंसुओं की सुगंध आएगी।

नन्दे ने छबीली नाइन की ओर देखा, और फिर मुंह दूसरी ओर कर लिया। छबीली ने माथे पर गिरे लाल बालों की लट को हाथ से पीछे किया, और सिर को अच्छी तरह ढांप लिया। नन्दे के पास बालो को देने के लिए न कोई सन्देश था और न ही कोई उलाहना।

छबीली खाली हाथ विवाह वाले घर चली पड़ी। उसका मन विगलित हो उठा। 'मेरा व्यवसाय भी कैसा है ! कोई चाहे उजड़े चाहे बसे, हमें कोई मतलब नहीं। हमें तो अपना काम करना और नेग लेना है।'

छोटी-छोटी लड़कियां मेहंदी की परात के आसपास बैठी, बड़ी आतुरता से छबीली की प्रतीक्षा कर रही थीं। लड़कियां जानती थीं कि छबीली जैसी मेहंदी लगाती है, वैसी मेहंदी कोई नहीं लगा सकता। "पहले मुझे," "पहले मुझे"—सारी लड़कियां [illegible] को देखकर उसके

पीछे पड़ गई। उन्हें पता था कि सबसे पहले दूर कोने में बैठी वालो को मेहंदी लगाई जाएगी, और फिर किसी और की बारी आएगी।

"कितनी इतराती हुई आई है!"

"अगर नाइन ने आज अपना नखरा न दिखाया, तो कब दिखाएगी?"

"कब से लड़की को चूड़ा चढ़ाकर बैठी हैं। तुझे हथेली पर ज़रा-सी मेहंदी ही तो लगानी थी। कौन-सा हल जोतना था?"

वालो की मां और चाची ने एक ही सांस में छबीली पर कई चोटें कीं। छबीली के मन में कई बार आया, कि कहे, 'आज तो तुम यदि मुझसे हल ही जुतवा लेतीं, तो अच्छा था; पर···' छबीली ने वालो के मुंह की ओर देखा, और उसके मुंह की तरह ही अपना मुंह भी बन्द कर लिया।

वालो ने दायें हाथ में एक तिनका पकड़ा हुआ था और वह गर्दन नीची किए, अपने पैर के पास की कच्ची ज़मीन को कुरेद रही थी। कभी-कभी आंसू की एक-दो बूंदें ढुलकतीं और कुरेदी हुई ज़मीन पर गिर पड़तीं।

छबीली ने वालो के हाथ से तिनका लेकर दूर फेंक दिया और उसकी सफेद हथेली को खोलकर उसपर मेहंदी लगाने लगी। वैसे छबीली को यह महसूस हो रहा था कि थोड़े ही दिनों में इस मेहंदी का रंग उतर जाएगा, पर उस तिनके से कुरेदी हुई भूमि में वालो ने जो आंसू बोए हैं, वे किसी दिन अवश्य उग आएंगे।

पास खड़ी औरतों ने सुहाग-गीत गाना शुरू किया।

"पिता मेरी गलियां तंग हो गई···
मेरा आंगन अब परदेश हो गया।"

और छबीली, जिसने आज अपने सिर पर फूलों वाला दुपट्टा डालते समय यह नहीं देखा था कि उसने दुपट्टा उलटा ही ओढ़ लिया था, उसे आज हरएक बात के अर्थ उलटे दिखाई दे रहे थे। वह सोचने लगी,

'लड़कियों का भाग्य भी क्या होता है, जिनके मां-बाप की गली इस तरह तंग हो जाती है कि एक प्यारा चेहरा भी उसमें से नहीं गुज़र सकता ! लेकिन एक बहुत बड़ी बारात उस गली में से निकल जाती है !...'

"अढ़ाई घरे खत्री हैं—अपनी जात के। जाटों ने भला क्या सोचा था ?"

बारात निकट आती गई। जैसे-जैसे बाजों की आवाज़ निकट आती गई, औरतें राय देती रहीं, और बालो की मां को फुलाती रहीं।

और बालो नन्दे की प्यार-कथा को दांतों-तले चबाती रही।

'सो जात मिल गई खत्रियों की...' छबीली नाइन ने एक लम्बी सांस ली और सोचने लगी, 'परन्तु मिट्टी की ज़ात किसीने नहीं देखी। एक बंजर घोड़ी चढ़कर एक चिकनी मिट्टी को ब्याहने आ गया। बंजर फूल-मालाएं बांध घोड़ी पर चढ़ा, और एक चिकनी मिट्टी किनारी वाले कपड़े पहनकर डोली में बैठेगी।...'

डिम लाइट

'दो कारें जब मुखालिफ दिशाओं से आ रही हों, कायदे के मुताबिक दोनों को अपनी-अपनी लाइट्स डिम् कर लेनी चाहिए, पर अगर वे दोनों ही कायदा भूल जाएं, तो वे एक-दूसरी की रोशनी में इतना चुंधिया जाती हैं कि वे एक-दूसरे के पास से गुज़रने की बजाय, आपस में टकरा जाती हैं...।' राबिन ने सोचा और मुस्करा दिया, 'कई शादियां बिल्कुल इस हादसे की तरह होती हैं—एक औरत और एक मर्द एक-दूसरे के पास से गुज़रते हुए अपने-अपने रास्ते पर जाने की बजाय टकराकर वहीं खड़े हो जाते हैं—एक-दूसरे की रोशनी में चुंधियाकर।' और राबिन को लगा कि उसका और आइरा का विवाह एक-दूसरे को जान-पहचान लेने के बाद हुआ विवाह नहीं, सिर्फ एक-दो मुलाकातों की चकाचौंध से घबराकर हुआ विवाह है...

यह सब वह तब सोचता था, जब आइरा उसके पास नहीं होती थी। वह जब पास होती थी, वह कुछ नहीं सोच सकता था। जो चमक उसने आइरा में पहले दिन देखी थी, वह आज भी कायम थी। और जब वह सामने आती थी, वह कुछ नहीं कहता था, सिर्फ आंखें झपका लेता था।

वह चमक आइरा के अंगों में थी और उसके स्वभाव में थी। अंगों वाली चमक को उसने 'सैक्स ऐट्रेक्शन' और फिर 'सैक्स ऐड्जस्टमैंट'

का नाम दे किसी तरह समझ-समझा लिया था; पर आइरा के स्वभाव वाली चमक उसके लिए आज भी एक मुश्किल वात थी—आंखों की थकावट की तरह और आंखों में अचानक उठ पढ़ने वाली एक टीस की तरह।

और वह सोचता था कि शायद यही हालत आइरा की थी। वह जव उसके उसके पास होता था, आइरा को उसके वजूद में दुनिया का सव कुछ भूल गया लगता था···आइरा की नज़रों में राविन दुनिया का सवसे हसीन मर्द था···और इसलिए वह भी शायद राविन की चमक में आंखें झपकाकर रह जाती थी···पर जव वह अकेली होती थी, राविन जानता था कि दुनिया की हर चीज़ को और हर घटना को वह राविन के वजूद से दूर होकर देखती थी—अकेली, और एक अजीव ज़ाविदे से।

दोनों के ये कोण कभी एक नहीं हुए थे। राविन डाक्टर था, मरीज़ों की नव्ज़ पर जव हाथ रखता था, या उनकी छाती पर स्टेथेस्कोप, तो उसे मरीज़ों की जेवों में या वैंकों में पड़े हुए पैसे की वात कभी नहीं भूलती थी। पर वह जितने भी पैसे मेहनत से जोड़ता था, आइरा उन पैसों को फिर से मरीज़ों तक पहुंचाने के लिए जैसे उतावली वनी रहती थी—जव देखो, किसीको फल खिला रही होती, किसीको मुफ्त विटामिन्ज की गोलियां दे रही होती··

"यह शायरी-वायरी एक वीमारी होती है···" राविन ने कई वार आइरा से कहना चाहा था, पर उसे लगता था कि आइरा को वीमारों से और वीमारियों से एक इश्क था। टूटे हुए वूटों वाले और गर्दन के पीछे लटकते वालों वाले लोग वह न जाने कहां से ढूंढ लाती थी। झूमती हुई आंखों से वह उनका ऊटपटांग सुनती रहती थी, और फर्श पर विखरे उनके सिगरेटों के टुकड़े चुनती वह कभी अपनी मोटर में उन्हें ले जा रही होती और कभी छोड़ने···

"मेरी जान की दुश्मन!" राविन ने एक-दो वार तिड़ककर आइरा

से कहा था; पर आइरा ने कुछ भी सुनने या समझने की जगह होंठों में एक मुस्कराहट की चमक भर कह दिया था, "तुम्हारी जान की नहीं; तुम्हारे ईमान की दुश्मन"—राबिन को मालूम था कि आइरा पैसे को राबिन का ईमान कहा करती थी।

वैसे पैसा राबिन और आइरा की किसी भी नाइत्तिफाकी की बुनियाद नहीं था। कभी इनका ज़िकर आता था तो बड़े ही सतही रूप से। इससे गहरी बातें दूसरी थीं—मसलन पिछले दोनों के सांझे दोस्त राहुल और रीता ने, जो पिछले पांच सालों से लंदन में थे, अपने दोनों बच्चे अपने देश रीता के मां-बाप के पास भेज दिए थे। आइरा को कितने ही दिन फिकर के कारण नींद नहीं आई थी। उसका ख्याल था कि राहुल और रीता का विवाह टूट रहा था। उसने रातों को जाग-जागकर कई वे छोटी-छोटी बातें सोची थीं, जो रीता ने पिछले वर्ष उसे खतों में लिखी थीं, "राहुल नहीं चाहता था, पर मैं एक अंग्रेज़ लड़की के साथ पन्द्रह दिनों के लिए पैरिस चली गई···राहुल एक ट्रेनिंग के सिलसिले में शहर से बहुत दूर है, मैं आजकल लंदन में अकेली रह रही हूं···मैं आजकल पेंटिंग सीख रही हूं, हमारा एक प्रोफेसर बड़ा दिलचस्प आदमी है···" और इन छोटी बातों में से आइरा ने कुछ अनिष्ट घट जाने का अनुमान लगा लिया था और फिर वह इतना घबरा गई थी कि उसने बम्बई में रहते राहुल और रीता के रिश्तेदारों को भी यह बात बता दी थी। बात कहीं की कहीं पहुंच गई थी—पंख इसे आइरा ने दिए थे, राबिन जानता था—पर जब यह बात बिल्कुल बेबुनियाद निकली थी तो शर्म के साथ-साथ राबिन को आइरा पर बहुत गुस्सा आया था···

और फिर थोड़े दिन पहले जब राबिन का एक भाई और एक बहन उनके पास रहने के लिए आए, आइरा ने उनके लिए विशेष आयोजन किए थे। वे बड़े खुश थे। सारा दिन वे बम्बई के दूर-नज़दीक समुद्री किनारों पर घूमते और रात की फिल्में देखते। वे अपने-अपने कालेज की अंतिम परीक्षा देकर आए थे और ज़िन्दगी की फुर्सत को चखकर देख

रहे थे। पर एक रात—जब वे दोनों बहन-भाई एक ही कमरे में सोए हुए थे—आइरा आधी रात के समय एक जासूस की तरह उनके कमरे में गई थी और उन्हें देख आई थी कि कहीं...कहीं उन दोनों से कोई गलती न हो जाए ...राबिन को आइरा का यह खौफ सिर्फ बेबुनियाद ही नहीं गलीज़ भी लगा था।

और फिर पिछले दिनों उनके एक रिश्तेदार की शादी थी। वहां जाकर आइरा ने उनके घर का इतना काम संभाला था कि पराये घर के एक-एक जीव को उसने मोह लिया था। पर एक दिन दुल्हन का मन-बहलाव करते-करते उसके पास बैठकर वह धीरे से उससे पूछने लगी थी कि उसने विवाह से पहले किसी और से प्यार किया था कि नहीं। लड़की रोने लगी थी, और आइरा को समझ नहीं आ रहा था कि उसे कैसे चुप कराए। राबिन को जब इस बात का पता चला था तो वह आइरा पर बहुत खीझ उठा था...

"तुम्हारे सात खून मुआफ..." राबिन आइरा की लम्बी और काली पलकों में चमकती परेशान आंखों में देखता था, कहता था, और फिर सोच में डूब जाता था।

"पर आठवें खून की बारी का क्या होगा? तुम वह मुझे मुआफ नहीं करोगे?" आइरा के होंठों पर एक मुस्कान बिलख उठती थी, और राबिन के गले में पड़ी उसकी नर्म-सी बांह, एक बेबसी की हालत में, लोहे के तार की तरह उसके गिर्द कस जाती थी।

"नहीं, आठवां खून मुआफ नहीं करूंगा," राबिन आइरा की आंखों से अपनी आंखें चुराते हुए कहता था।

राबिन के बड़े भाई ने, बहुत दिन हुए, उससे कुछ रुपया उधार लिया था। दो महीने बाद उसे लौटाने का इकरार किया था, पर बात वर्षों की हो चली थी और उसने रुपया लौटाया नहीं था। राबिन ने अपने भाई से मिलना छोड़ दिया था। मां अभी जीवित थीं। और किसी के मन [illegible] नहीं, पर मां के मन पर इस बात का बड़ा बो[illegible]

राबिन की ज़िन्दगी में दाखिल होते ही मां के मन पर से यह बोझ उतार दिया था। बड़े भाई को आइरा ने विश्वास दिलाया था कि राबिन अब इस बात को भुलाना चाहता था, पर वर्षों की चुप्पी को तोड़ना उसके लिए मुश्किल हो रहा था, और आइरा ने राबिन के बड़े भाई से मिन्नत कर कहा था कि अगर वह फराखदिल हो किसी दिन राबिन से मिलने को आ जाए तो रबिन मन ही मन बहुत खुश होगा। और आइरा ने राबिन को वह पुरानी रकम पूरी की पूरी देते हुए कहा था कि यह रकम उसके भाई ने लौटाई है। खुद अपने हाथों इसलिए नहीं लौटाई, क्योंकि इतनी देर बाद वापस करते हुए उसे शर्म महसूस होती थी। और इसके बाद जब वे दोनों भाई मिले थे, तो दोनों एक-दूसरे से खामोश, आदर के भाव से मिले थे। मां को कुछ पता नहीं था, पर वह आइरा के जादू पर कुरबान हो गई थी। बेशक बहुत देर बाद जब राबिन को आइरा के जादू का पता चला था, वह कुछ दिन के लिए आइरा से नाराज़ भी हो गया था, पर फिर भी अंदर कहीं वह आइरा के जादू से चौंधिया गया था।

ऐसी चमक राबिन को अच्छी लगती थी, पर आंखों में पड़ने वाली इसकी रोशनी से हुई घबराहट उसे अच्छी नहीं लगती थी। उसका मन करता था कि आंखों में पड़ रही इस 'फुल लाइट' की जगह अगर कहीं आइरा अपनी रोशनी को थोड़ा-सा 'डिम' कर ले…

वे दोनों कहां और कौन-सी जगह खड़े थे, राबिन को कुछ पता नहीं था। आइरा किस पल किससे क्या कह देगी, राबिन को यह भी मालूम नहीं था। यह 'क्या' यह भी हो सकता था कि आसपास के लोग एक 'एडमिरेशन' में आइरा को देखते रह जाएं, और यह 'क्या' यह भी हो सकता था कि लोग किसी 'एम्ब्रेसिंग' सवाल से बचने के लिए अपनी आंखें चुराने लगें…

पिछले कुछ दिनों से आइरा जब गुसलखाने में जाती थी, अपने डेढ़ वर्ष के बेटे को भी नहलाने के लिए अपने साथ ले जाती थी। साधारण

तौर पर आइरा के चेहरे को वड़ा खुश और खिला हुआ चेहरा कहा जा सकता था, पर राविन ने देखा था कि आइरा जब बच्चे को नहला और बड़े तौलिये में लपेट अपनी गीली बांहों में उसे लिए हुए गुसलखाने में से वाहर आती थी, उसका चेहरा सूरज के पहले प्रकाश की तरह तपता हुआ दिखाई देता था···और एक दिन आइरा ने बड़ी सरूर-भरी आंखों से राविन की ओर देखा और कहने लगी, "राव, तुम क्या नहीं कर सकते, इस छोटे-से वलूंगे को छाती पर लिटाए जब मैं टब में पड़ी रहती हूं, और यह अपने होंठों और नाखूनों से जिस तरह मेरी गर्दन और छाती को खरोंचता है, और मेरे शरीर पर जिस तरह यह पांव मारता है—इट इज़ सिंपली वंडरफुल···प्योर एक्सटैसी···" और आइरा ने झुककर बच्चे के गीले बालों में से एक लम्बी सांस भरी थी—सांस का घूंट-सा पिया था—और फिर कहने लगी थी, "खुदा जैसी पाक चीज़ सिर्फ एक वच्चा हो सकता है।"

"इट इज़ परवर्शन।" राविन ने हौले से कहा था और दूसरी ओर देखने लगा था।

बात को हुए कुछ दिन हो गए थे, पर वह राविन के ज़हन में कहीं अटकी हुई थी। वैसे उसका ज़िकर उसने फिर कभी नहीं किया था, पर आज रात···

आज रात राविन जब आइरा के पास लेटा हुआ था, आइरा ने अपने होंठ राविन के होंठों से परे कर लिए, और कसम खाकर कहने लगी, "ऐसे नहीं राव! यहां वन्द कमरे में और अंधेरे में चोरों की तरह नहीं—कहीं बाहर, खुले आसमान के नीचे, जहां चांद की पूरी रोशनी बिखरी हुई हो—और सफेद दिन चढ़ा हुआ हो—आई वांट इट देयर, इन द ओपन···"

"आइरा!" राविन घबरा गया। फिर बहुत देर चुप रहा। और फिर उसने आइरा के कन्धे पर अपना तना हुआ हाथ रखते हुए कहा, "मैंने तुमसे कभी कहा नहीं, कई बार सोचता हूं कि अगर दो कारें

मुखालिफ दिशाओं में से आ रही हों, दोनों को अपनी-अपनी लाइट 'डिम' कर लेनी चाहिए, नहीं तो एक-दूसरी की रोशनी दोनों पर इतनी पड़ जाती है कि दोनों को अपना रास्ता दिखाई नहीं देता। मैं रास्ता देखना चाहता हूं, आइरा ! तुम अपनी लाइट कुछ 'डिम' नहीं कर सकतीं ?"

"क्या मतलब ?" आइरा के होंठ हंसकर कुछ खुश्क-से हो गए।

"जो कुछ भी तुम्हारे मन में है, वह तुम किसी दिन मुझसे कह क्यों नहीं देतीं ? मुझे लगता है, जैसे बहुत गहरे में कहीं कुछ···" राबिन की आवाज़ संभल गई और उसने फिर कहा, "तुम शायद मुझे बताना भी चाहती हो, पर बता नहीं सकतीं···शायद इसीलिए तुम कमरे का अंधेरा नहीं, खुले आसमान का उजाला चाहती हो···"

"इसके साथ कुछ बताने या न बताने का क्या सवाल है ?" आइर ने खुश्क होंठों पर ज़बान फेरी और कुछ कांप-सी गई।

"सूरज के उजाले में या चांद की रोशनी में अपना नंगा बदन मे हवाले कर···" राबिन ने कहा और आइरा की आंखों में देखने लगा।

"तुम्हारा खयाल है राब, कि इस तरह मैं···" आइरा की आवा कुछ लड़खड़ा-सी गई, पर फिर वह संभलते हुए बोली, "इस तरह इ डायरेक्टली नहीं, इण्डायरेक्टली बता रही हूंगी।"

"हां, पर व्हाई नॉट डायरेक्टली, आइरा ?" राबिन की आवा तुनक-सी गई।

आइरा चुप रही। कमरे की नीली रोशनी में राबिन ने देखा कि आइरा के दूधिया गुलाबी रंग में से जैसे किसीने लहू का रंग खींच लिय हो, और बदन हर पल धूल के रंग जैसा होता जा रहा हो।

आइरा के होंठ हौले से हिले, "राब ! तुम इसी हालत को लाइ का 'डिम' करना कहते हो ?"

राबिन ने कुछ नहीं कहा। आइरा ही फिर बोली, "तुम ठी कहते हो राब ! मैंने जिन्दगी को दो तरह देखने का ही ढंग सीखा है-

वत्ती को पूरी तरह जलाकर या फिर विल्कुल बुझाकर। छोटी थी तो अपनी वत्ती को जलाने का ढंग नहीं आता था, सामने जो कोई दिखता था, गैस की तरह जलता हुआ दिखता था, गैस की तरह ही नहीं; लपट की तरह जलता हुआ दिखता था। मेरे अपने पास कुछ नहीं होता था, मैं उससे ही रोशनी उधार ले उसे देख लेती थी…"

आइरा का चेहरा एक सफेद-सी और भूरी-सी राख जैसा हो गया। राविन के भीतर जैसे कुछ खिच-सा गया, और उसे पहली वार यह ख्याल आया कि जिस तरह वह वर्षों से आइरा को भरी-पूरी रोशनी में तकता आ रहा था, आगे भी उसी तरह देखता रहता तो क्या हर्ज था… मद्धिम रोशनी में किसीको घूरकर देखना और अपनी आंखों को उसके विलकुल भीतर तक चुभा देना क्या वहुत ज़रूरी है?…जितना कुछ सामने दिखता-मिलता है, उतना ही क्यों काफी नहीं हो सकता?…और राविन ने अपनी हथेली हौले से आइरा के होंठों पर रख दी।

आइरा ने होंठों पर पड़ी हथेली को हौले से सूंघा—हथेली को नहीं, हथेली में आई हल्की-सी कंपकंपी को। और फिर अपने होंठों को उसकी हथेली के नीचे सरका कहने लगी, "अपने-आपको विल्कुल वुझाकर जो कुछ देखा था, उससे फिर इस तरह डर गई थी कि हमेशा के लिए अपने-आपको अच्छी तरह जलाकर रखने की आदत डाल ली।"

राविन को लगा कि उसे जल्दी से कुछ कह देना चाहिए, नहीं तो वह घड़ी वीत जाएगी, और फिर शायद वह इस वीती हुई घड़ी को कभी वापस नहीं ला सकेगा। इसलिए उसने कहा, "आइरा! तुम जैसे भी अपने-आपको जलाए हुए हो, यह वहुत ठीक है, शायद यही ठीक है, मैं तुमसे कुछ भी वदलना नहीं चाहता…"

राविन को लग रहा था कि मद्धिम रोशनी में अगर किसीको अपना-आप दिखाना मुश्किल होता है, तो किसीके लिए उसे देखना भी उतना ही मुश्किल हो सकता है। आइरा की तरह उसे अपना चेहरा भी एक सफेद-सी और भरी-सी राख जैसा हो गया लग रहा था…

"नहीं राव ! मैं इस लाइट को आज सचमुच ही 'डिम' करना चाहती हूं। मैं उसे इसलिए तेज जलाए हुए थी कि मेरे सब कुछ को कभी भी कोई देख न सके। पर इसके साथ-साथ यह भी हो गया है कि सिर्फ दूसरे ही मेरे से आंखें नहीं चुराते, मैं खुद भी अपने से आंख चुराने लगी हूं...मैं जब बहुत छोटी थी, स्कूल में पढ़ती थी...स्कूल के बड़े मास्टरजी..." आइरा की टांगें इकट्ठी हो उसकी बांहों में सुकड़ गई, और उसके हाथों की तालियां इकट्ठी हो उसके मुंह पर आ गई...बीती हुई घड़ी के बहुत बड़े और काले पंख जैसे आइरा पर झपट पड़े थे—और शायद मास्टरजी का पिलपिला और चौड़ी हड्डी वाला एक फैला हुआ वजूद भी आइरा के नंगे बदन पर झूल आया हो...

राबिन ने आइरा की चौंधिया देने वाली रोशनी में कई बार आंखें झपकी थीं, पर उस मद्धिम रोशनी में उसे लगा कि उसकी पलकें आपस में जुड़ गई थीं।

फिर जुड़ी हुई पलकों में भी राबिन को लगा कि वह आइरा को टटोल रहा था, और वह जहां से भी, एक दीवार के साथ गुच्छा हुई और एक ज़ख्मी कबूतरी की तरह अपने परों में सिमटी उसे ढूंढ़ रही थी, उसे पाकर वह अपनी छाती से लगा रहा था...

"मेरे सात खून मुआफ थे, पर यह तो आठवां खून है..." आइरा के होंठ सिसकते गए।

"तुम्हारे सब खून मुआफ..." राबिन ने आइरा के होंठ चूम लिए, और उसे लगा कि आइरा के पूरे होंठ उसने आज पहली बार चूमे थे।

मोनालीज़ा नम्बर दो

पिछले कुछ सालों में मैंने जो कुछ देखा, सुना और जाना है, जो उसे कुछ तरतीब से आपके सामने रखूं तो एक तरफ कुछ नज़्में रख सकता हूं, यानी कि इन्सान के कुछ सपने जिनके पंखों में अनेक रंग होते हैं, और दूसरी तरफ इन्साइक्लोपीडिया ऑफ मर्डर, यानी इन्सान के वे कर्म, जिनके पंखों में सिर्फ खून का एक ही रंग भरा होता है। और इन दोनों के बीच मोनालीज़ा को रख सकता हूं—मोनालीज़ा नम्बर दो।

मेरी-उसकी वाकिफी के पहले दिन ही उसने अपना वह नाम रखा था। कहने लगी, "वीराजी, कोई नाम बताओ ! मैंने अपना नाम रखना है।"

"अभी तक तेरा नाम कोई नहीं ? कोई नहीं होगा, जो अभी तक तूने अपना नाम मुझे नहीं बताया।"

"मेरा नाम 'एस' से शुरू होता है, पर मैं चाहती हूं, मेरा नाम कोई वह हो, जो 'ए' से लेकर 'एम' तक के बीच के अक्षरों में किसीसे शुरू हो।"

"तेरे ख्याल के मुताबिक, एम के बाद जो अक्षर आते हैं, वे कोई अच्छे अक्षर नहीं होते ?"

"पता नहीं, पर मैंने कहीं पढ़ा था कि दुनिया के खास लोगों के नाम ए से लेकर एम़ तक के अक्षरों वाले होते हैं।"

"यह तूने कहां पढ़ा था ?"

"याद नहीं, पर मैंने पढ़ा जरूर था।"

मैंने कहा कुछ नहीं, सिर्फ गौर से उसकी तरफ देखता रहा—उसका छोटा-सा कद, ज़रूरत से ज्यादा भरा हुआ जिस्म, रंग गोरा था, पर गाल जैसे गोरे रंग से अफरे हुए थे, और इसी अफारे के कारण होंठ कुछ लटके हुए थे। उसकी उम्र अठारह-उन्नीस बरस की होगी, पर उसकी उम्र किसीको कुछ खींचती-सी नहीं लगती थी। वह मेरी तरफ नहीं देख रही थी। मैंने देखा, मेरे कमरे में लगी हुई एक तस्वीर को बड़े ध्यान से देख रही थी।

"यह तस्वीर किसकी है ?" कुछ देर बाद उसने पूछा।

"इतनी मशहूर तस्वीर तूने पहले नहीं देखी ? यह दुनिया की उस औरत की तस्वीर है, जिसकी मुस्कराहट को आज तक कोई नहीं समझ सका।"

"क्या मतलब ?"

"कई कहते हैं कि उसकी मुस्कराहट में उदासी भी शामिल है, और कई कहते हैं, उदासी या निराशा बिल्कुल नहीं, उसमें सिर्फ जवानी की तपिश मिल हुई है या शायद दुनिया पर कोई व्यंग्य। उसकी मासूम, भेदों से भरी मुस्कराहट पर बहस करते दुनिया को जाने कितने साल हो गए हैं। मुस्कराहट का अर्थ चाहे जो कुछ हो, पर यह ठीक है, उसकी मुस्कराहट ने दुनिया के लाखों लोगों का ध्यान अपनी तरफ खींचे रखा था और अब भी खींचा हुआ है।"

"उसका नाम क्या था ?"

"मोनालीजा।"

"मोनालीजा, एम से। मैंने फैसला कर लिया है, मैं अपना नाम मोनालीजा रखूंगी।"

"मोनालीजा ?" मैं ऐसे चौंक पड़ा, जैसे उस लड़की ने मेरे देखते-देखते मेरी दीवार पर लगी हुई मोनालीजा की तस्वीर फाड़ दी हो—

—नहीं, मेरी दीवार पर लगी हुई एक साधारण छपी हुई तस्वीर नहीं—मोनालीज़ा की असली लीउनारदो दा विंची की पेंट की हुई कैनवस फाड़ दी हो।

"क्या जो कुछ अपने पास नहीं है—वह खरीदा नहीं जा सकता?" वह हंस पड़ी।

"तेरा मतलब है, तू वह मुस्कराहट खरीद सकती है?"

"हां, खरीद सकती हूं।" उसने कहा और फिर हंस पड़ी। वह या तो चुप रहती थी या हंसती थी। चुप रहती थी तो उसके मोटे होंठ उसके मुंह पर लगे ताले की तरह लगते थे। हंसती थी तो उसके चौड़े दहाने में से उसकी हंसी चौपट खुले दरवाज़ों में से एकबारगी वह गई लगती। मैं सोच रहा था कि अगर कोई मुस्कराहट को खरीदने वाली बात मान भी ले, तो किसी मुस्कराहट को वह किन होंठों पर रखेगी? पर मैं उसके साथ कोई दिल दुखाने वाली बात नहीं कर सकता था। वह मेरी आज ही वाकिफ बनी थी, और वह भी बड़ी मेहरबान शक्ल में। वह मेरे पास मेरी उस काशनी का संदेश लेकर आई थी, जिसका संदेश तो क्या, जिसका नाम सुनने के लिए भी मेरे कान बरसों से तरसे हुए थे। बरस हुए, काशनी के ब्याह की रात उसका खत आया था कि जो मैं उसे भूल सकूं तो भूल जाऊं। इसके बाद काशनी ने कभी नहीं पूछा था कि 'जो' वाला लफ्ज़ बरतते वक्त उसने जिस अपनी याद को भूलने या न भूलने के बीच लटका दिया था, उस याद का क्या बना? और आज यह लड़की मुझे बता रही थी कि वह जिस स्कूल में पढ़ाती है, आज काशनी उस स्कूल में अपनी बच्ची को दाखिल करवाने आई थी और फिर उसको मालूम नहीं, किन छिड़ी बातों में से उसे यह बात पता लग गई थी कि उसकी बच्ची की मास्टरनी भी उसी बस्ती में रहती है, जिस बस्ती में मैं रहता हूं—उसके कुंवारे दिनों का इश्क।

इस कासिद लड़की ने मुझे आज पहली बार देखा था। सड़क पर गुज़रते शायद कहीं देखा होगा, पर मेरे साथ बात करके आज उसने

पहली बार देखा था। और उसके कहने के मुताबिक आज काशनी को भी उसने पहली बार देखा था, पर यह मानना पड़ेगा कि उसके पास बात करने की अजीब बेबाकी थी। अभी जब उसने मेरे कमरे का दरवाज़ा खटखटाया था, मैं हैरान-सा हुआ उसे पूछने लगा था कि तुम कौन हो, तो कमरे में गुज़रते हुए उसने अजीब बेबाकी से कहा था, "मैंने आपकी साली बनना था, पर नहीं बन सकी, सो अब कुछ भी नहीं..."

एक ही फिकरे में उसने काशनी से बहन या सहेली का नाता भी जोड़ लिया था, और मेरे साथ काशनी के ब्याह की सम्भावना का वक्त भी।

"पर तूने मुझे अपना नाम अभी तक नहीं बताया!" वह जाने लगी थी, जिस वक्त मैंने उसे पूछा।

"मोनालीज़ा, अभी आपके सामने मैंने अपना नाम रखा है। आप मोना कहके बुलाओ। वैसे भी पहली बार मैं यह नाम आपके मुंह से सुनना चाहती हूं, क्योंकि आपके घर ही रखा है, आपके कमरे में।"

मुझे उसके नाम में दिलचस्पी नहीं थी, मैं सिर्फ उसके मुंह से काशनी की बात एक बार फिर सुनना चाहता था, इसलिए कहा, "मोना, पर तूने मुझे यह जो काशनी का सन्देश दिया है, इसे सन्देश किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता।"

"सन्देश सिर्फ लफ्ज़ों में होता है? आंसुओं में नहीं हो सकता? आपका नाम लेते हुए उसकी आंखें जिस तरह नम हो आई थीं, उन आंखों का पानी आपको कोई सन्देश नहीं लगता?"

"पर उसने तुझे यह नहीं कहा था कि मेरे पास तू आना और मुझे यह बात बताना।"

"फिर वही बात! सिर्फ लफ्ज़ों में ही कुछ कहा जा सकता है?"

मुझे यह नहीं लग रहा था कि मैं काशनी को फिर उसी शिद्दत से प्यार करने लगूंगा, जैसे किया करता था। परेशान ज़रूर हो गया था, और मैंने देखा कि मोना गौर से मेरे मुंह को देख रही थी। उसके होंठों के पास एक छोटा-सा बल भी पड़ गया था—वह शायद हम दोनों की

अनकही बातों को समझ लेने की, और फिर एक-दूसरे के पास जाकर कह सकने वाली समझ की, मुस्कराहट थी—और मुझे लगा कि अभी यह मोनालीज़ा मुस्कराहट को खरीदने वाली जो बात कह रही थी, मुझे उसकी बात का भेद पता लग गया था। मैंने अपना सिर झुका लिया।

उस रात मैंने ज़िन्दगी में पहली बार एक नज़्म लिखी। काशनी मुझे इस तरह याद आ रही थी, जैसे कभी नहीं आई थी। और मेरी नामुराद छाती में एक अजीब-सी हूक उठी थी कि कहीं यह मेरी नज़्म मोनालीज़ा काशनी को न पढ़ा दे…तुम्हारा ज़िक्र सुनकर जो किसीकी आंखों में आंसू आ जाएं तो इसका मतलब है कि तुम अभी भी किसीकी छाती में जीते हो। पता नहीं, इन्सान अपने जीते रहने का यह सबूत क्यों मांगता है—जैसे अपने-आपमें जीते होना काफी नहीं होता… कल्पना करके देख रहा था कि काशनी ने मेरी यह नज़्म पढ़ी है और यह नज़्म एक जलते कोयले की तरह उसके मन में पड़ गई है और इस कोयले की आग से उसके मन में पड़े हुए बरसों के बुझे हुए कोयले फिर सुलग पड़े हैं…वैसे मोना के स्कूल में जाकर उसे ढूंढ़ना और यह बात कहना भी पागलपन लग रहा था।…

मैं नहीं गया। तीन दिन गुज़र गए। चौथे दिन मोना आई। मैं अभी होटल से रोटी खाकर आया था और अपने कमरे में आकर बिजली के स्टोव पर कॉफी बना रहा था। जैसे कोई बरसों का वाकिफ आता है, मोना ने आते ही मेरे हाथों से कॉफी का डिब्बा पकड़ लिया। प्याले गर्म पानी में धोए और कॉफी बनाकर मेज़ पर रख दी।

"वीराजी, आपकी तबीयत ठीक नहीं लगती।" मोना ने कॉफी का पहला घूंट भरते हुए कहा। मोना ने पहले दिन आते ही मुझे 'वीराजी' कहकर बुलाया था—मुझे ऐसे जज़्बाती लफ्ज़ों से कभी भी लगाव नहीं हुआ— जल्दी से किसीको माताजी या बहनजी कहना मुझे हमेशा बड़ा अटपटा-सा लगता है…मोना के मुंह से पहले दि— —े —ीं

पर आज यह लफ्ज सुनकर मुझे बुरा नहीं लगा, कुछ अच्छा ही लगा। शायद इसलिए कि इस लफ्ज़ की सादगी से मेरी और उसकी वाकफियत की राह इतनी आसान हो जाती थी कि मैं उसके साथ काशनी की बातें बिना संकोच के कर सकता था, और वाकफियत की इस आसान राह में किसी भुलावे का कोई अन्धा मोड़ नहीं आ सकता था। मुझे लगा कि मोना ने भी जरूर मेरी तरह सोचा होगा। मुझे उसकी यह दूरदर्शिता अच्छी लगी। और मैं कॉफी पीता हुआ उसे अपनी नज़्म सुनाने लगा।

नज़्म सुनाकर मुझे लगा कि नज़्म का दर्द मेरे हिस्से आया था, पर ज़िन्दगी में कोई नज़्म लिखवाने का गरूर मोना के हिस्से में। कहने लगी, "इस नज़्म के सिले में मुझे क्या दोगे? नज़्म लिखना अगर हुनर है तो लिखवाना भी तो हुनर है।"

"पर यह तूने नहीं लिखवाई मोना, यह काशनी ने लिखवाई है," मैंने जवाब दिया। वैसे यह जवाब देकर मुझे लगा कि जवाब चाहे ठीक था, पर फिर भी जो कुछ ज़ाहिर था, वह कहने की क्या ज़रूरत थी?

मोना के मुंह पर कोई उदास परछाईं नहीं आई। चाहे उसके लफ्ज़ थे, "यू आर ए क्रूअल परसन राकेश।" यह बात उसने वीराजी वाला रिश्ता परे करके कही लगती थी, पर मुझे बुरा नहीं लगा। इन्सान की इन्सान से वाकफियत को हर समय किसी रिश्ते की ज़रूरत नहीं होती। और मुझे तो किसी रिश्ते की वैसे भी ज़रूरत नहीं थी। मोना ने वह नज़्म मुझसे मांग ली, और कॉफी के प्याले मेज़ पर से उठाकर और धोकर चली गई।

दूसरे या तीसरे दिन मोना फिर आई—और फिर जैसे एक सिल-सिला-सा बन गया। इन्तज़ार के दौरान में कोई नज़्म ज़रूर लिखता, मोना को सुनाता, वह नज़्म मांग लेती और हंसकर काशनी की कोई न कोई बात ज़रूर सुनाती। कभी कहती, "मैंने आज काशनी के बच्चे के हाथ काशनी को सन्देश भेजा था कि बच्चे की पढ़ाई के बारे में मुझे कोई बात करनी है, इसलिए वह स्कूल आ जाए।" कभी कहती

कि आज काशनी खुद ही स्कूल आई थी, उसे वच्चे को आधी छुट्टी दिलवाकर घर ले जाना था। और फिर वह वताती कि काशनी कैसे मोना से अपने वच्चे की वात करती उसके काले वटुए की तरफ देखती रहती थी—तरसकर सोचती रहती थी कि आज उसके लिए कोई और नज़्म भेजी गई थी कि नहीं। एक दिन मोना ने मुझे यह भी वताया कि काशनी मेरे लिए एक खत लिख रही थी। भेजने का हौसला नहीं कर रही थी, पर किसी दिन कर लेगी।

जिस मकान में मैं एक कमरा-किराये पर लेकर रहता था, मकान के मालिक उसी मकान के निचले हिस्से में रहते थे। रोज़ दूसरे दिन मोना का मेरे कमरे में आना अव तक मकान-मालकिन को ज़रूर अखरने लगा होगा—मैं कई वार सोचता था और मोना को कहना चाहता था, पर कहता नहीं था कि मोना को अगर यहां आने से मना कर दूं तो उसके स्कूल जाकर या किसी गली के मोड़ पर खड़ा होकर उससे काशनी की खवर पूछना या वताना मुझे इससे भी मुश्किल हालत में डाल देगा। और मुझे लगा—कौन से दुःख की दवा मोना के पास नहीं थी, क्योंकि अगले दिनों में ही मैंने देखा कि मोना के लिए मेरी तरह ही मकान-मालकिन की लड़की इन्तज़ार कर रही होता थी—खुद मकान-मालकिन इन्तज़ार कर रही होती थी।

लड़की का शायद जल्दी व्याह होने वाला था। मोना उसके साथ वैठकर कितनी-कितनी देर तक उसके कपड़ों को गोटा-किनारी लगाती रहती थी, रसोई में उसके पास वैठकर सब्जियां बनाती रहती थी—और एक दिन मैंने यहां तक देखा कि व्याह वाली लड़की वीमार थी, मां के हाथ में सब्जी काटते समय चाकू लग गया था और शायद जूठे वर्तनों को मांजने की ज़्यादा ज़रूरत पड़ गई थी कि मोना उनकी रसोई में वैठकर उनके वर्तन मांजने लग गई थी—"ऐसी लड़कियां आजकल कहीं नहीं होतीं, किसी खुशनसीव मां ने जनी होगी," मकान-मालकिन मुझे ज़ीने पर चढ़ते हुए और मेरे पास आकर ख-

कह रही थी, और मोना ने भी अन्दर से आवाज़ देकर कहा था, "मैं अभी आई वीराजी"—जैसे ज़ोर से मुझे वीराजी कहकर और मकान-मालकिन को सुनाकर उसने आए दिन मेरे कमरे में आने और बैठने का रास्ता निकाल लिया था। चाहे वह मेरे कमरे में आकर भी मुझे वीराजी ही कहती थी, पर कई बार ऐसे लफ्ज़ों को ऊंचे से और दूसरों के सामने कहना शायद ज़रूरी हो जाता है—मुझे मोना की यह सूझ अच्छी लगी।

राह जाते हुओं का काम संवारने की मोना को एक लगन थी। एक अजीब-सा दर्द मोना के दिल में बड़ी उम्र में समा गया लगता था—एक रात अपने दर्द का भेद अपने मुंह से उसने बताया। रात काफी हो गई थी, मेरे कमरे का दरवाज़ा खटका। मोना आई, पर उसके मुंह का रंग किसी निचुड़े हुए कपड़े की तरह था। उसके हाथ ठण्डे थे और कांप रहे थे। मेरी बांह थामकर उसने दरवाज़ा बन्द कर दिया और कांपती-कांपती दीवान पर बैठ गई।

"वीराजी···" कांपते होंठों से उसने यह मुश्किल से कहा और निढाल होकर औंधी-सी हो गई। मैंने उसको दो कम्बल ओढ़ाए और कितनी देर तक उसकी बांहों को दबाता रहा। वह होश में नहीं लग रही थी। मैंने चाय का प्याला बनाया, उसे कन्धे का सहारा देकर बैठाया, चाय पिलाई, और कुछ घबराता-सा उसे कहने लगा कि वह हिम्मत करे, संभलकर मुझे बात सुनाए और फिर मैं उसे उसके साथ जाकर घर छोड़ आऊंगा।

"मैं बड़ी बदनसीब हूं," उसने रोकर कहा और बाद में आधे टूटते फिकरों में उसने जो कुछ मुझे सुनाया, वह सचमुच भयानक था—वह बच्ची-सी होती थी, मुश्किल से बारह वर्षों की, जब उसके सगे बाप ने उसे 'रेप' किया था। उसका बाप अब मर गया था। पर आज उसकी मां घर नहीं थी, वह अकेली थी और उसका सगा चाचा परदेस से आया था। उसने चाचा को रोटी खिलाई थी, फिर सोने के लिए अपने कमरे

में चली गई थी कि उसका चाचा उसके कमरे में आकर ज़बरदस्ती…

अब मैं उसे घर जाने के लिए नहीं कह सकता था। ज़्यादा से ज्यादा यह कह सकता था कि वह नीचे जाकर अपनी सहेली मकान-मालकिन की बेटी के पास जाकर सो जाए। वह नहीं मानी। वह मन की जिस हालत में थी, ऐसी हालत में किसीके पास नहीं जाया जा सकता था। मैंने उसे अपने बिस्तर में सोए रहने दिया और आप एक कोट और ऊपर से ओवरकोट ओढ़कर ज़मीन पर सो गया। कमरे में एक ही दीवान था जिससे मैं दिन में बैठने का और रात को सोने का काम लेता था, और जहां अब वह सो रही थी।

मुझे नींद नहीं आ रही थी—पता नहीं मोना की बदनसीबी को सोचकर या आज की अजीब हालत में अपने-आपको सोचकर कि मोना चीखकर उठ बैठी। मैं मोना के मन की हालत समझ सकता था, उसकी आंखों के आगे बार-बार अपने चाचा की सूरत आ रही थी—चालीस-पैंतालीस की उम्र का छः फुट लम्बा आदमी, गले से कपड़े उतारे, आंखों में लाल डोरे पड़े हुए और मुंह से आती ह्विस्की की बू में झूमता और मोना के गले से खींचकर कपड़े उतारता…

चाचा की सूरत को रो-रोकर आंखों के आगे से हटाते हुए मोना के मन में एक नहीं, दो भयंकर घटनाओं के सिरे जुड़े हुए लगते थे। मोना ने मुझे बताया था कि उसके चाचा की शक्ल बिल्कुल अपने मरे हुए भाई की तरह है, मोना के बाप जैसी।

उस रात मोना मेरी बांह से लगी बार-बार डरती और चौंकती रही थी। कई बार उसकी छाती का उभार मेरे पहलू में चुभता-सा लगता था। कह नहीं सकता था कि उसके जिस्म की इस नज़दीकी के साथ आज की घटना की पृष्ठभूमि न होती तो मेरा जिस्म इतना अडोल रह सकता था कि नहीं, पर उस दिन वह बिल्कुल अडोल रहा था। मुझे वह ज़ख्मी परिन्दे की तरह लग रही थी, [illegible] पीठ को या बांहों को [illegible] हुए पंखों [illegible] हाथ लगाते हुए मुझे सिर्फ यह लग रहा

सहला रहा होऊं।

उस रात के बाद मैंने मनोवैज्ञान की नई कितावें लाकर पढ़ीं और मोना को भी पढ़ाईं। मेरी यह बड़ी तमन्ना थी कि मोना जैसी अच्छी लड़की के मन पर से अगर उसके ज़ख्मों के खुरंड उतर सकते हों, तो उतर जाएं। उसका कुंवारा मन फिर से हरिया जाए। एक दिन एक अमरीकी अखबार में से उसने अमरीकन पुलिस का एक इश्तिहार पढ़ा, जिसमें दस कातिलों की तस्वीरें देकर उनकी ज़िन्दगी के कई व्यौरे देकर इश्तिहार दिया हुआ था कि इन जेलों से भागे हुए दस हत्यारों की पुलिस को बड़ी ज़रूरत है। इश्तिहार किसी रंगीन मिज़ाज जर्नलिस्ट का लिखा हुआ लगता था। इवारत बड़ी चुस्त थी। मोना मुझे एक-एक की तस्वीर दिखा रही थी और पढ़ रही थी, "सुनो वीराजी, यह एडवर्ड मैप्स के बारे में क्या लिखा हुआ है, इसकी तस्वीर देखी है, दिखने को पेरिस का आर्टिस्ट लगता है, लिखा हुआ है, इसने सबसे पहले अपनी बीवी को कत्ल किया था, फिर और कई औरतों को, पर यह सिर्फ उन औरतों को कत्ल करता है, जिनकी उम्र चालीस से ज्यादा हो। और लिखा हुआ है कि लड़कियो, अपनी 'आंटियों' से कह देना, आजकल अकेली रात को बाहर न जाया करें..." मोना हंस रही थी और कह रही थी, "इस जेम्स एडवर्ड कैनेडी को देखो, पुलिस ने इसे ढूंढ़ने के लिए एक निशानी बताई हुई है कि इसके बायें हाथ पर एक लफ्ज़ गुदा हुआ है—पता है क्या लफ्ज़—'लव'।" मोना हंसे जा रही थी, इश्तिहार पढ़ रही थी और फिर मुझे याद है, किसी कातिल का व्यौरा पढ़ते हुए उसने पढ़ा कि उस कातिल ने छः कत्ल किए थे और मुझे याद है, मैं चौंककर रह गया था, जब आगे मोना ने अपनी तरफ से कहा था कि उसे छः कत्ल नहीं करने चाहिए थे, सात करने चाहिए थे, क्योंकि सात नम्बर 'लकी' होता है।

पर मुझे यह सोचकर कुछ तसल्ली मिल रही थी कि अब मोना कई बार अपने चाचा का जिक्र करती उस तरह नहीं घबराती थी, जिस

तरह उस रात घवराई थी। एक दिन उसने एक किताव में एक केस पढ़ा था कि एक वड़ा खूवसूरत लड़का पहले अपनी एक बहन के साथ सम्वन्ध जोड़ता था, और फिर उसे और उसके बच्चे को मारकर, फिर दूसरी वहन से सम्बन्ध जोड़ लेता था। उसकी तीन बहनें थीं। ये तीनों वहनें उसने वारी-बारी से मार दी थीं। यह केस पढ़कर मोना ने खुदा का शुक्र किया था कि वह अभी तक जीवित है, उसे न उसके बाप ने कत्ल किया और न उसके चाचा ने···मोना की वातों से मैं देख रहा था कि दिन-व-दिन उसके मन के ज़ख्म भरते जा रहे थे।

और फिर···फिर वात उलट गई। एक दिन सुवह-सुवह, सुवह भी अभी नहीं थी, मेरे कमरे का दरवाज़ा खटका। मकान-मालकिन की लड़की दरवाजे के वाहर खड़ी थी। मुझे पिछले दो महीनों से पता था कि वह वीमार है, पर मुझे यह पता नहीं था कि वह इतनी वीमार है। उसके ब्याह में पूरे पांच दिन रह गए थे और उसकी प्याज़ के छिलके की तरह शक्ल देखकर हैरान हो गया था कि पांच दिनों में यह लड़की डोली में कैसे वैठेगी। वह पहले कभी मेरे कमरे में नहीं आई थी, और वड़ी झिझकी-सी खड़ी थी···

"क्यों रक्षा···?" लफ्ज़ मेरे मुंह में थे। रक्षा ने मिन्नत से कहा, "मोना दो दिनों से नहीं आई। मैं कभी उसके घर नहीं गई। इन दिनों जा भी नहीं सकती, आप जैसे भी वने, उसे बुला दें।"

"उसके घर मैं भी कभी नहीं गया। शायद तीसरे ब्लाक में वह रहती है; पर मेरा ख्याल है, वह यहां नहीं है, एक हफ्ते की छुट्टी लेकर अपनी किसी मौसी के पास गई है···"

"एक···हफ्ते···के···लिए···" रक्षा घवराकर वहीं दहलीज पर वैठ गई।

"तुझे वहुत ज़रूरी काम था?" मैंने कहा, पर मुझे कुछ समझ में नहीं आया था। रक्षा ने फैली आंखों से मेरी तरफ देखा, मेरी तरफ नहीं, एक शून्य में। रक्षा के जिस्म से खून वहता हुआ नहीं दिख रहा

था, पर ऐसा लग रहा था कि जैसे सारा खून बहकर कहीं चला गया था और पीछे खून से रीता उसका जिस्म रह गया था।

"मैं···मर···जाऊंगी···" रक्षा ने तड़पकर कहा।

"पांच दिनों में तेरा व्याह है रक्षा !"

"उस···दिन···मेरी···अर्थी···इस घर से निकलेगी···"

रक्षा की बात सुनकर मैंने जो अनुमान लगाया, मेरा ख्याल है, वही अनुमान लगाया जा सकता था कि जहां रक्षा का व्याह हो रहा था, वह वहां व्याह करवाना नहीं चाहती थी। गम में घुलती पिछले महीनों से खाट पर पड़ी हुई थी। पर मुझे यह पता नहीं लग रहा था कि मोना को इस बात में उसकी क्या मदद करनी थी—शायद किसी तरह उसको समझा-बुझाकर लाना था, जिसे रक्षा प्यार करती थी और चाहती थी कि वह व्याह से रक्षा को बचा ले।

"मैं समझ सकता हूं रक्षा, कि यह व्याह तेरी मर्जी से नहीं हो रहा···" मैं यही कह सकता था, कहा।

"नहीं राकेश साहब, यह बात नहीं। व्याह मेरी मर्जी से हो रहा है।" रक्षा विलख-सी पड़ी।

"फिर ?"

"मोना के आगे मैंने मन का दुःख खोला था, पर वह मुझ डूबती को छोड़कर पता नहीं कहां चली गई है, उसे अच्छा-खासा पता था···"

"मुझे पता नहीं रक्षा···पर जो तू मुनासिब समझे···"

"अनजानी उम्र में कई गलतियां हो जाती हैं वीराजी ! मोना आपको वीराजी कहती है, मैं भी कह लूं···? आपको सगे भाई से बढ़कर समझूंगी···अगर···" घबराई हुई रक्षा ने मेरे पैरों की तरफ हाथ बढ़ाया। मैंने उसका हाथ रोक लिया। उसने एक बार सीढ़ियों की तरफ देखा, जैसे देख रही हो कि उसकी बात किसी और के कान में तो नहीं पड़ी, फिर हिरास होकर और पछताकर कहने लगी—"सामने, पास के घर में एक लड़का देवीकुमार रहता है, अब एम० ए० में पढ़ता है, मुझे वह

अच्छा लगता था। ढाई-तीन वरसों की बात है, मैं तव अनजान थी, उसे कुछ चिठ्ठियां लिख बैठी। उसने भी लिखी थीं। बात कोई वड़ी नहीं थी। उसके बाप की यहां से बदली हो गई, तो वह होस्टल में चला गया, बात खत्म हो गई। अब उसके वाप की फिर यहां बदली हो गई है, वह फिर घर आ गया है। वह कहता है कि वह मेरी चिट्ठियां ब्याह वाले दिन 'मेरे उस' को दिखाएगा···इससे तो मैं मर जाऊं··· अच्छा है···"

मैंने देवीकुमार को देखा था, थोड़ा-सा जानता भी था, पर दिखते हुए चेहरों के पीछे अनदेखे चेहरे भी होते हैं। मैंने रक्षा को हौसला दिया कि मैं देवीकुमार को मिलूंगा और उसे समझाऊंगा; पर रक्षा ने जो बात आगे बताई, मुझ लगा कि मैं इस देवीकुमार को कुछ न समझा पाऊंगा। रक्षा ने बताया कि उसने चिट्ठयों के बदले उससे दो हज़ार रुपये मांगे थे। वह रुपया नहीं दे सकती थी, इसलिए उसने मां के सन्दूक में से एक बड़ा मोटा सोने का गोखरू चुराकर मोना के हाथ उसे भेज दिया था। जवाब में मोना को वे चिट्ठियां लाकर रक्षा को देनी थीं, पर चिट्ठियां उसे अभी तक नहीं मिली थीं और ब्याह में पांच दिन रह गए थे।

"रक्षा, तू मुझे देवीकुमार का खत दिखा सकती है, जिसमें तुझे डरावा दिया है कि वह···"

"वीराजी ! ऐसा डरावा कोई लिखकर नहीं देता। उसने ज़बानी दिया था कि वह···"

"तुझे कब मिला था ?"

"मुझे नहीं मिला, उसने मोना के हाथ कह भेजा था।"

पता नहीं कितने ख्याल मुझे आए और गए, पर रक्षा को बचाना था, किसी भी तरह बचाना था। मैंने एक प्याला कॉफी का पिया और दफ्तर जाने से पहले देवीकुमार के घर जाकर उसे बुलाकर नहर वाली सड़क पर ले गया। यह भी सोच रहा था कि मैं शायद बात को

सीधी करने की जगह और उल्टी न कर दूं। जो किसी लड़की से दो हज़ार रुपये मांग सकता था, वह मुझे भी किसी उलझन में डाल सकता था।

अजीव हालत थी। मैं देवीकुमार पर शक करना चाह रहा था, पर शक करने वाली मुझे कोई जगह नहीं मिल रही थी। वैसे बड़ी समझदारी से भरे लफ्ज़ों में मैंने वात शुरू की—इन्सानी मन की सच्चाई का वास्ता देकर। और किसी वचकाने, सख्त, और मेरे ऊपर ही कोई इल्ज़ाम लगाते जवाव को सुनने की उम्मीद में मैं उसके मुंह की ओर देख रहा था कि उसने अपने होंठों को कितनी देर तक अपने दांतों में चवाकर और फिर आंखों में आते आंसुओं को रोककर मुझसे कहा था—"मुझे कोई इतना वुरा भी समझ सकता है, मैं कभी सोच नहीं सकता था।"

इन्सानी मन किसी भी रौ में वह सकता है, मैंने यह भी सोचा था कि शायद देवीकुमार मेरे आगे वात को टालने के लिए यह कह रहा था, और फिर वात को टल गई समझकर जव रक्षा को निश्चिन्त हो जाना था तो इसने आज से पांचवें दिन···पर इस रौ में भी मुझसे वहुत देर तक नहीं रहा गया। देवीकुमार के कहने के मुताविक उसे चिट्ठियों वाली वात का ख्याल तक भी नहीं था। वे चिट्ठियां उसने तभी होस्टल से जाते हुए फाड़ दी थीं। और मोना नाम की लड़की को वह न कभी मिला था, न कभी उसने कोई डरावा दिया था, न कोई सोने का गहना लेकर उसके पास आया था। और देवीकुमार ने मुझे यकीन दिलाने के लिए यहां तक कहा था कि अगर मैं चाहूं तो उसे एक हफ्ते के लिए अपने किसी दोस्त के घर कैदी की तरह रख लूं और व्याह वाला दिन किसी भी खतरे के विना गुज़र जाए···

कुछ नहीं हो सकता था। सिर्फ यह हो सकता था कि देवीकुमार पर यकीन कर लूं। और या यह हो सकता था कि मोना को कहीं ढूंढ़कर देवीकुमार के सामने लाऊं और वात को उसकी तह तक देख सकूं।

मोना का घर ढूंढ़कर मैं उसके घर गया। देवीकुमार भी मेरे साथ था। मोना की मां को देखा, और देखा कि उसने बड़े प्यार से मुझे अन्दर आने और बैठने के लिए कहा, जैसे वह मुझे जानती हो, शायद मोना के मुंह से सुनकर।

"मैं तो बेटे, खुद ही सोचती थी कि तेरे घर जाऊं, तेरे आगे झोली फैला दूं..." मोना की मां ने जब मुझे कमरे में बैठाकर और फिर मेरे पास बैठते हुए यह कहा, मैं सिर से पैर तक हिल-सा गया था। हड़बड़ाकर बोला था, "लगता है, आपने मुझे गलत पहचाना है..."

"तन बूढ़ा हो जाता है बेटे, नज़र बूढ़ी नहीं होती। मैंने तुझे देखते ही पहचान लिया था। राकेश नाम है न तेरा ? मैंने तेरी तस्वीर देखी है।" उसने जब यह कहा तो मुझे याद आया कि मैंने एक बार मोना को एक तस्वीर दी थी, मोना को नहीं, मोना के हाथ काशनी को। और मैं सोचने लगा कि मोना ने मेरी वह तस्वीर अपनी मां को दिखाई होगी।

"तेरे नाम की माला जपती है, तेरी भक्तिन। आखिर मेरे पेट की जन्मी है, मैं उसके मन की बात नहीं समझती भला ? जो किताब वह रोज़ रात को पढ़ती है, तेरी तस्वीर उसने उस किताब में रखी हुई है..."

"मेरी तस्वीर !..." मुझे नहीं, मेरे सपनों को एक चोट-सी लगी और मैं सोच में पड़ गया कि मोना ने मेरी तस्वीर अभी तक काशनी को क्यों नहीं दी थी।

"यह देख बेटा...मैं चाहे दूर खाट पर सोई होती हूं, पर जितनी देर तक आंख नहीं लगती, यह भी ताड़ जाती हूं कि वह दो पन्ने पढ़ती है, और फिर कितनी-कितनी देर तक तस्वीर को देखती रहती है..." यह कहकर वह एक सन्दूकची में से किताब निकाल लाई। किताब निकालती हुई सन्दूकची ही उठा लाई थी। कहने लगी—"किताब तो

अंग्रेज़ी की है; पता नहीं क्या है, पर वह नियम से गीता की तरह इसे पढ़ती है।"

मैंने किताब हाथ में पकड़ी और किताब सहित मेरा हाथ ठिठक गया। 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ मर्डर'। किताब का नाम देवीकुमार ने भी पढ़ लिया था, उसने मेरी तरफ देखा और मैंने उसकी तरफ।

किताब में मेरी तस्वीर पड़ी हुई थी ऐसी, जैसे सफों की निशानी रखी हो। किसी-किसी सफे पर किसी पंक्ति के सामने लाल पेंसिल की लकीर थी। लकीर वाली एक पंक्ति मैंने पढ़ी, लिखा था, "छः कत्ल वह कर चुका था, सातवां कत्ल सिर्फ इसलिए उसने किया था कि उसके ख्याल के मुताबिक सात नम्बर 'लकी' होते हैं।" पिछले कितने ही दिन भमीरी की तरह मेरी आंखों के सामने घूमने लगे और फिर लाल लकीर वाली मैंने एक और पंक्ति पढ़ी। यह किताब की इण्ट्रोडक्शन में से थी, "कोई साइंटीफिक कारण नहीं लगता, पर यह अजीब बात है कि जो कातिल बहुत मशहूर हुए हैं, अक्सर उनके नाम ए से लेकर एम तक के अक्षरों से शुरू होते हैं..." मोनालीज़ा...और मेरे कानों में गूंजने लगा—"मेरा नाम एस से शुरू होता है, पर मैं चाहती हूं कि मेरा नाम कोई वह हो, जो ए से लेकर एम तक के बीच के अक्षरों से शुरू हो।" ये अक्षर मेरे कानों में गूंज रहे थे और मुझे लगा कि मेरी ज़बान मेरे मुंह में लकड़ी की तरह सूखती जा रही थी, और मेरे सिर को चक्कर आ रहे थे।

किताब में से मैंने अपनी तस्वीर निकाल ली, और किताब को सन्दूकची में रख दिया। सन्दूकची का ढक्कन बन्द करते हुए एक ख्याल मुझे आया और मेरा हाथ वहीं का वहीं रुक गया। मैंने ढक्कन फिर उठाया। उलट-पलट की ज़रूरत नहीं थी, सामने वे सारे कागज पड़े थे, जिनपर मैंने नज़्में लिखकर काशनी को भेजी थीं। मैंने एक-एक कर सारे कागज़ उठा लिए। यह सोचने लायक वक्त नहीं था कि यह सब कुछ मोना ने काशनी को क्यों नहीं दिखाया। सिर्फ यह सोच रहा था

कि अगर इस सन्दूकची की मालकिन की मां इन कागज़ों को ले जाने से रोकेगी तो उस वक्त क्या कहूंगा; पर उसने खास कुछ नहीं कहा, सिर्फ कहा, "ये कागज़ तेरे हैं वेटा ! जो तुझे ज़रूरत हैं तो ले जा…"

उसने मौके को संभाल लिया लगता था। मेरा मुंह कोई खुश नहीं दिख रहा होगा। उसने भी देखा होगा। मेरी तस्वीर भी मेरे हाथ में थी। उसने कुछ नहीं कहा। वैसे वात करने लगी, शायद सिर्फ वात करने के लिए, "अपनी हिम्मत से ही इतना पढ़-लिख गई है, नहीं तो सिर पर वाप नहीं है, कौन पढ़ाता…"

वाप का ज़िक्र सुनते ही मेरे मन में कुछ खरोंच-सा गया। मैंने पूछा, "वह कितने वरस की थी, जव उसका वाप मर गया था ?"

"जाने किस जन्म में पाप किया था वेटा, इधर यह लड़की गोद में आई और उधर इसका वाप चल वसा…" वह पल्ले से आंखें पोंछती हुई कहने लगी। पैरों के नीचे से ज़मीन निकलने का मुहावरा मैंने सुना हुआ था, पर उस वक्त मुझे सचमुच यह लगा कि मेरे पैरों के नीचे से निकलकर पता नहीं ज़मीन कहां चली गई थी। किसी ज़मीन को संभालने की कोशिश में मैंने कहा, "मुश्किल से दस-वारह साल की होगी, जव इसका वाप…"

"दस-वारह वरसों की कहां वेटा, दस-वारह महीनों की…उसे तो वाप का होश भी नहीं, दस-वारह महीने के वच्चे को क्या होश होता है…"

मुझे लगा कि मेरे पैरों के नीचे से ज़मीन निकल गई थी, पर अभी मुझे पैरों के नीचे कोई और ज़मीन मिल गई थी। मैंने उसे पूछा, "तुमने वड़ी मुसीवत के दिन देखे होंगे ? उसके चाचा-ताऊ ने उसे पाला और पढ़ाया होगा…"

"ना कोई आगे ना कोई पीछे, उधर उसके ननिहाल में कोई मामा नहीं, मामा को वड़ी ममता होती है वेटे ! इधर ददिहाल में ना कोई चाचा ना ताऊ। चाचा-ताऊ भी हो तो नाक रखने के लिए कुछ

करते ही हैं ना···।"

वह पल्ले से अभी भी आंखें पोंछ रही थी। जिस वक्त मैं उठ बैठा, देवीकुमार भी उठ बैठा। "बेटा! बिन मुंह जुठाले ही चल दिए···कुछ मिनट बैठ जाओ, मैं चाय का घूंट बना लाती हूं···" बात उसके मुंह में थी, जिस वक्त मैं ड्योढ़ी में था। कुछ नहीं कहना था, पर इस बेचारी औरत के मन से भ्रम दूर करने के लिए मैंने कहा, "मुझे बड़ी जल्दी है इस वक्त, वह आएगी तो कह देना, तेरे वीराजी आए थे···"

'वीराजी' लफ्ज़ के साथ मुझे अपने होंठों के ऊपर भी एक छाला पड़ गया लगा, और मैंने देखा कि सामने खड़ी उस बेचारी बूढ़ी औरत की ज़बान पर भी एक छाला पड़ गया था। वह मेरे मुंह की तरफ देखने लगी—सामने दिख रहा था कि मोना ने जो कुछ भी मेरे बारे में बताया था, उस 'कुछ' में मेरे वीराजी होने की सम्भावना बिल्कुल नहीं थी।

इसके बाद मुझे पता नहीं कि मोना कब अपनी मौसी के गांव से आई होगी, उसकी मां ने उसे क्या पूछा और बताया होगा। मोना फिर मुझे मिलने नहीं आई। रक्षा का ब्याह हो गया, पर कोई घटना नहीं हुई। सिर्फ घर में एक खलबली मची रही थी कि घर में से किसी भेदी ने सोने का गोखरू चुरा लिया था।

रक्षा चुप रहना चाहती थी। मोना को दिए हुए गोखरू वाली बात बताते हुए उसे सारी बात बतानी पड़ जाती। वह यही शुक्र कर रही थी कि गोखरू खोकर उसकी जान सुर्खरू हो गई थी। देवीकुमार ने रक्षा को शायद कोई सन्देश या सौगात नहीं देनी थी, पर अब एक दोस्तदिल होने का सबूत देने के लिए उसने मेरे द्वारा कुछ किताबें और एक घड़ी भेजी।

मैं मोना को एक बार मिलना चाहता था। एक-एक बात पूछकर उसके मुंह का रंग देखना चाहता था—मोनालीज़ा के मुंह का रंग—कि सुना, मोना का ब्याह हो गया था। मकान की मालकिन ने मुझे यह खबर बताई थी। तो फिर उसने होंठ काटते हुए यह भी बताया था कि

"लोग तिल का पहाड़ बनाते हैं, कहते हैं कि उसे दिन चढ़े हुए थे, इसलिए रातोंरात उसके फेरे डाल दिए गए—क्या पता इसलिए कि मर्द उसका हमउम्र नहीं है। सुना है, बड़ी उम्र का है, वैसे कहते है, बड़ी ज़मीन का मालिक है…लोगों को जलन भी तो बहुत होती हैं…किसीको भरा-पूरा देखकर खुश नही होते…" और फिर वह मेरी तरफ देखती, मुझे घूरती-सी कहने लगी थी, "तुझे भी उसने व्याह की खबर न की ? वैसे तो 'वीराजी, वीराजी' कहती के होंठ सूखते थे।"

हादसे जब होते हैं तो होते ही जाते हैं। कुछ महीने बीते थे, मकान-मालकिन ने मुझे दफ्तर से आते हुए दरवाज़े पर ही रोक लिया। दोनों हाथ मलते हुए कहने लगी—"तूने कुछ सुना है, मैं तो ज़ुल्म की बात सुनी है…बदनसीब ने उलटी पट्टी पता नहीं कहां से पढ़ ली…" उसने अपनी बात में अभी तक मोना का नाम नहीं लिया था, पर मुझे पता था, वह उसकी बात कर रही थी, कहने लगी, "आंखों से देखा नहीं पर सुना है कि दरवाज़े में घुसते ही हवेली उसने अपने नाम लिखवा ली थी, फिर पता नहीं उसे काहे का दुःख था, परसों-चौथे दिन उसने अपने मर्द को काट डाला, सोते पड़े को। फिर कहते हैं, टुकड़े-टुकड़े करके सारी रात उसे कागज़ों में बांधती रही। रंगदार कागज़ों पर उसने चांदी के वरक लगाए और टोकरे में ऐसे रख लिए, जैसे पिन्नियां रखी हों। सुबह जब नौकर-चाकर जागे तो उन्हें कहने लगी, शाहजी सुबह ही कहीं बाहर चले गए हैं। फिर मोटर में टोकरे रखवाकर खुद ही मोटर चलाकर कहीं चली गई, किसी कुएं या खाई में फेंकने गई होगी। कम्बख्त ने चांदी के वरक लगाए होंगे कि घर के नौकरों को कोई शक न पड़ जाए। दोपहर के वक्त लौट आई। दो दिन तो किसीको शक नहीं हुआ; पर खून कहां छुपता है! सात पर्दों में भी बोलता है, शाहजी बाहर से लौटकर ही न आए। फिर पता नहीं मुंशी-मुनीमों को शक पड़ गया कि किसको, किसीने पुलिस को खबर दे दी, और फिर कहते हैं, पुलिस ने कुछ चीलें देखीं, जिनकी चोंचों को वरक लगे हुए थे।

जहां चीलें बार-बार उड़ती थीं, पुलिस ने ज़र्रा-ज़र्रा वह जगह छान डाली और फिर जो ढूंढ़ना था, ढूंढ़ लिया। पुलिस दरवाज़े पर आ बैठी। पुलिस के हाथों से कहां जाती ! अन्दर घुसकर कुण्डी लगा ली, और फिर पता नहीं क्या फांक लिया था, पुलिस ने जब दरवाजा तोड़कर उसे निकाला तो वह मरने के करीब थी। हस्पताल ले गए। पता नहीं बचती है कि नहीं, वैसे भी पूरे दिनों से थी···

"उसकी मां को खबर देने आज कोई मुंशी आया था। सारी बात पड़ोसियों को भी सुना गया है। सवेरे अखबारों में भी यह बात आ जाएगी···"

बात अखबारों में आनी थी, आ गई। और फिर यह भी खबर कि वह हस्पताल में मर गई थी। इस बात को भी कितने दिन बीत गए हैं; पर कभी बैठता हूं, सोचता हूं तो मेरे सामने एक तरफ मेरी वे नज़में आ जाती हैं जो मैंने काशनी के लिए लिखी थीं—या यह कह सकता हूं कि मोना ने काशनी के नाम पर मुझसे लिखवाई थीं और एक तरफ इन्साइक्लोपीडिया ऑफ मर्डर का एक नया पन्ना, जो उस किताब से बाहर है, फिर उस किताब में है। और इन दोनों के बीच वह आ जाती है—मोनालीज़ा···नहीं, मोनालीज़ा नम्बर दो। और उसकी वे सारी बातें, जिन्हें वह खुद ही गढ़ती थी और आप ही सुनाती थी और फिर उससे उपजी किसीकी हैरानी और परेशानी को देखकर वह मुस्कराना चाहती थी। मोनालीज़ा जैसी मुस्कराहट ! नहीं, मासूम भेदों से भरी हुई नहीं, भयंकर भेदों से भरी हुई मुस्कराहट !

मलकी

मोहरसिंह जब अचानक घोड़ी पर से गिरकर मर गया, तो आस-पास के गांव में जितने दोस्त थे, उनके घर बलते घी के दीये कांप गए। हरनाम कौर, उसकी ब्याहता, "वे सरदारा! मेरिया थानेदारा ..." कहकर रोती-रोती जब थक गई तो नसवार की एक चुटकी लेकर पिछली कोठरी में जा पड़ी।

केहरा, उसका बड़ा बेटा, जब क्रिया पर बैठा, उसकी आंखों के पपोटे सूज रहे थे। लोगों के लिए वह सारी रात रोता रहा था, पर यह सिर्फ उसे पता था कि वह मृतक पिता के सिरहाने से जब पिस्तौल और सिलाजीत की डिबिया उठाकर पिछली एक कोठरी में गया था तो सारी रात फावड़े से कोठरी के एक कोने में गड्ढा खोदकर बाप के सारे गंडासे, छुरे और गोलियां-पिस्तौल छिपाता रहा था। जानता था कि पुलिस कभी इस घर की राह नहीं करती थी, पर यह भी समझता था कि पुलिस को जिस मुंह का मुलाहज़ा था, वह मुंह न रहा तो पुलिस का लिहाज़ भी नहीं रहना था।

मलकी ने इस आंगन में कभी पांव नहीं रखा। उसके लिए मोहर-सिंह ने नया कोठा छतवा दिया था, पर आखिर उसकी सरदारी भी मोहरसिंह के लिए सदका थी, मरे हुए सरदार का मुंह देखने के लिए खोई हुई बछड़ी की तरह उसके आंगन में आ गई। फौजा, [illegible] सिंह

खाली जगह होती थी, जो कभी भरती नहीं थी···इस खाली जगह पर वह आप ही कभी एक बच्चे को गोदी में डालकर बैठ जाती थी···बच्चे को दूध पिलाती थी···कन्धे पर लगाकर उस रोते हुए को बहलाती थी···और फिर सोए हुए बच्चे का मुंह चूम-चूमकर बावरी हो जाती थी···

जब वह बरस गिनती तो वही गोदी का बच्चा उसकी आंखों के आगे बड़ा हो जाता···वह नया ढीला कुर्ता सिलाती···और आटे की परात भरकर गूंथती···

बरसों की गिनती भूल जाती तो बच्चा छोटा हो जाता, बरसों की गिनती याद करती तो बच्चा बड़ा हो जाता···और वह अपने सामने पड़ी खाली जगह को आंखें मूंद-मूंदकर भरती रहती···

एक दिन सो रही थी, तो उसने सपने में अपने बेटे की सुन्नतें करवाईं। जागी तो मोहरसिंह की आवाज़ कान में पड़ी, 'मलकीअत कौरे उठ चाय का घूंट बना, मैंने जल्दी जाना है··'

'मलकीअत कौर'···रोती हुई मलकी को हंसी-सी आ गई, बैठी-बैठी कहने लगी, 'मलकीअत कौर तो तेरे साथ ही मर गई सरदारा! अब बता इस मलकी का क्या करूं?'

'सरदार जब जीता था, कभी रौ में होता था, तो उसे कहती थी—बेलिया सरदारा! यह तूने मेरे साथ क्या किया? मुझे बसी-बसाई को उजाड़ना था तो दो बरस पहले उजाड़ लेता, तब क्यों उजाड़ा, जब बरस का बेटा झोली में डालकर बैठी थी···'

और 'बेली सरदार' कहा करता था, 'संयोगों की बात होती है मलकीअत कौरे! मैंने सैकड़ों औरतें तेरी जैसी, और तुझसे भी सवाई, उठाईं और बेचीं, पर धर्म की सौगन्ध, दिल किसी पर नहीं आया था। तेरा सौदा तो किसी और के लिए किया था, पर ज्यों ही आंख उठाकर तुझे देखा, मेरे जी को जंजाल पड़ गया···'

और मलकी जी ही जी में कांप जाती, 'यह सरदार, जो मुझे

बन्दूकों के ज़ोर से उठा लाया, जो औरों की तरह मुझे भी कहीं आगे बेच देता, मेरा पता नहीं क्या हाल होता···यहां मुझे गर्म हवा नहीं लगने देता···मुंह से एक बात निकालूं तो छत्तीस निआमतें हाज़िर करता है···मैं शिकलीगरों की फकीरनी-सी औरत···यह मुझे राज कर-वाता है।' और फिर मलकी की सारी दलीलें डूब जातीं, जिस्म पर पड़े सोने के गहने भी कच्चे रंग की तरह खुर जाते, और वह मन के गहरे दरिया में पड़ी हुई उस किनारे को ढूंढ़ती जिस किनारे पर उसकी कोख में जन्मा उसका बेटा था··

बेली सरदार ने एक बार उसके लिए कोशिश की। पर कुछ नहीं बना। शिकलीगरों को जब मलकी का पता लगा था, वह सरदार के गांव आए थे, और सरदार ने उनके साथ एक सौदा करना चाहा था कि अगर वह मलकी का बेटा उसे दे दें तो वह पूरे पांच हजार उनकी झोली में डाल देगा। पर शिकलीगरों ने सरदार को बदले की धमकी दी थी, और सौदा थूक दिया था।

'सरदार मोहरसिंह से बदला?' सरदार ज़ोर-ज़ोर से हंसा था, और फिर हवा में उसकी पिस्तौल की गोलियां हंसी थीं···

और फिर पता लगा कि शिकलीगरों का वह टोला हदें-सरहदें लांघकर पाकिस्तान चला गया था···

"अठारह बरस हो गए···"मलकी ने उंगलियों पर बरस गिने, और फिर उनमें अपने बेटे की उम्र का वह बरस भी जोड़ा, जब उसने बेटे को आखिरी बार देखा था, और फिर उन्नीस बरस के बेटे का मुंह याद करती सामने पड़ी हुई खाली जगह की तरफ देखने लगी···

मोहरसिंह का अभी मुश्किल से क्रिया-कर्म ही हुआ था जब लोगों ने सुना कि मलकी अपने कुएं-खेत छोड़कर पाकिस्तान चली गई थी···

और दीया जलता रहा

कोठरी में केवल आज का अंधेरा था, जो सूरज डूबने के बाद वीरांवाली की चारपाई की अदवायन पर गुच्छा-सा होकर बैठे हुए दीपे की तरह कोठरी में इकट्ठा होकर पड़ा हुआ था। पर दीपे को लगा यह कई दिनों का अंधेरा है, कम से कम बीस दिन का—उस दिन से जिस दिन उसने अपने मरे हुए बच्चे को नाल समेत बाहर एक गढ़े में गाड़ दिया था।

और दीपे को लगा—शायद उसके तन का भी, और वीरांवाली के तन का भी, एक टुकड़ा हमेशा के लिए किसी अंधेरे गढ़े में गाड़ दिया गया है···

'प्रसव की पीड़ा तो औरत को मार ही डालती है,' दीपे के मन में आया 'पर वीरांवाली को जिस हावके ने मार डाला है, उसका क्या करूं ?' और हरीरे का एक घूंट पीकर औंधे मुंह पड़ी हुई वीरांवाली के बदन पर हाथ फेरते हुए दीपे ने एक गहरा सांस भरा।

फिर अंधेरे में एक खड़का-सा हुआ और दीवार के आले में दीये की लौ जल उठी। दीपे ने लौ की ओर देखा। दीवार के पास हाथ में दियासलाई की डिबिया लिए भागी खड़ी थी···

"उठ, गुड़ की रोड़ी निकाल दे, तेरे लिए एक घूंट चाय बना दूं।" दीये की लौ की तरह भागी की आवाज़ आई तो दीपे की आवाज़ हिली,

"नहीं, नहीं, अभी वीरांवाली के लिए हरीरा बनाया था, मैंने भी घूंट-भर ले लिया था।"

भागी दरवाज़े की ओर लौटते हुए दहलीज़ के पास ठिठक-सी गई तो काली चुनरी में लिपटा हुआ उसका गोरा मुंह एक पल के लिए दीपे की आंखों में चमक गया···फिर अचानक सांवला हो गया···ऐसे जैसे भागी अभी दहलीज़ के बाहर गई हो और उसकी जगह पर जमना दहलीज़ में आकर खड़ी हो गई हो।

यही दहलीज थी जहां एक दिन जमना आकर खड़ी हो गई थी।

हाथ में दियासलाई की डिबिया लिए, और इसी तरह उसने आले में रखे हुए दीये को जलाया था···सिर्फ तब चारपाई की अदवायन पर दीपा बैठा हुआ नहीं था, उसका पिता था···

उसका पिता बताया करता था, 'दीपे! तुझे जन्मते ही तेरी मां मर गई थी और रुई की बत्तियां दूध में भिगोकर जिसने तुझे जिन्दों में किया वह जमना थी···रोज आकर दीया जलाया करती थी···

वही जमना दीपे को हूबहू याद हो आई—कमर के गिर्द कभी हरा और कभी पीला तहमद, गले में काला तरीजों वाला कुरता, सिर पर मलमल का काला पल्ला और गले में चांदी की जंजीरी और कानों में चांदी की बालियां···

और जब वह रुई की बत्तियां चूमकर कटोरी से दूध पीने योग्य हो गया था तो उसका पिता बताया करता था कि वह जमना की बालियां मुट्ठी में पकड़ लिया करता था, हाथ से झुनझुना भी फेंक दिया करता था···

और जो उसके पिता ने नहीं बताया था वह, जब वह बड़ा हुआ, तब उसे लोगों ने बताया था- 'अरे दीपे कैसा रूप था जमना का, पर जमना भरी-भराई चली गई, उसका जल किसी ने न पिया···तेरे पिता ने मरासियों के दरवाजों पर अनगिनत बरस गलाए थे, कंठ में राग भरकर जब वह आवाज़ लगाता था—'जमना जल भरने दें' तो गांव की

दीवारें भी कांप उठती थीं…'

सारा गांव जानता था, दीपा भी, कि जमना जिस बूढ़े की तीसरी थी—बस नाम को चार फेरों की लेनदार थी—उसकी किरिया के बाद सदा के लिए अपने पीहर आकर बैठ गई थी…

और यह दीपे ने अपनी आंखों से देखा था कि उसका पिता गुड़, सौंफ और संतरे के छिलके डालकर जब कीकरों के छिलके की शराब खींच कर पीता था लहर में आकर गाया करता था—'तेरे साहवां दी सौंफ नूं सुंघ लइए, गुड़ वरगिए मिट्ठए ते छुरी वरगिए तिक्खिए नी ! तैनू हिक्क दे विच्च उतार लइए, अग्ग रंगीए सूहिए चुआत्तिए नी…'*

जमना का रंग सांवला था, पर काले पल्ले में दप-दप कर उठता था…और दीपे की आंखों के आगे दूसरे क्षण ऊन का एक काला दुशाला भी फैल गया—सत्तर-बहत्तर बरस की जीवनी, हाथ में लाठी लिए, अपनी पीठ के कूबड़ को सहारा देती, गांव की जगत-भुआ—अभी चार ही दिन पहले की वात है जब आते-जाते दीपे की पीठ पर प्यार दिया करती थी, और दीपा कहा करता था 'भूआ पा लागी' तो वह कहा करती थी 'क्यों रे, भूआ किस रिश्ते से ?'

दीपे के मन में विचार आया—लोग फटे हुए कपड़े की गांठ लगा लेते हैं, पर रिश्तों को तो केवल ईश्वर ही गांठ लगाता है, कोई और उन्हें गांठ नहीं लगा सकता…

और दीपे को अपनी दादी याद हो आई जो जीवनी को सदा मरनी कहा करती थी। यह तो दादी की मृत्यु के वाद गांव की जुलैखां नाइन ने गांव में फैलाया कि दीपे की दादी ने घर की छत अपने सिर पर थाम ली थी, नहीं तो घर की नींवें कहां थीं ? नीवें तो जीवनी ने एक ही नज़र से हिला डाली थीं…

---

*तेरे सांसों की सौंफ को सूंघ लूं, तू गुड़ जैसी मीठी और छुरी जैसी तीखी है। तुझे दिल में उतार लूं, तू आग की लौ जैसी लाल, अंगारे-सी जलती हुई है।

जुलखा नाइन ने जीवनी को जीते-जी एक दन्त-कथा बना दिया था, कहती, "एक बार तो जीवनी ने सारी रात दीपे के दादा को लिहाफ में छिपा दिया…सगे-सम्बन्धियों ने गांव के कुएं, जोहड़ छान मारे, पर जीवनी का लिहाफ कौन टटोलता ?…फिर दिन चढ़ने को हुआ, अब वह क्या करती…मुंह अंधेरे ही उसे घर की दीवार के ऊपर से कुदा दिया…।" और यह भी जुलैखा नाइन का बताया सारा गांव जानता है, "पर दीपे की दादी तो बाघिन थी, उसने जीवनी का लिहाफ नाखूनों से फाड़ डाला, जैसे किसीका पेट फाड़ा हो…"

दीपे को ऊन के दुशाले में लिपटी हुई, हड्डियों की एक मुट्ठी-भर, जीवनी याद हो आई तो अपने दादा की वैराग-भरी तान भी याद आ गई जो कुएं की जगत पर बैठकर वह लगाया करता, 'दिल लग गया बेपरवाहा दे नाल…पार झनां दे माही दा ठिकाना, कीते कौल ज़रूरी जाना अनबन बन गई मल्लाहां दे नाल'…*

दीपे का मन भर आया, आंखों के आगे काले दुपट्टे इस तरह फैल गए जैसे भरे दरिया में कई नावें बिना चप्पू के पड़ी हुई हों, न डूबती हों, न तैरती हों, और न ही किसी किनारे लगती हों…

कोठरी के खुले हुए दरवाज़े से हवा का झोंका आया, दीपे ने पहनी हुई रुई की कुरती का बटन बन्द किया, और हाथ बढ़ाकर बीरांवाली पर पड़े हुए खेस को दोहरा कर दिया…

चारपाई पर बीरांवाली वैसी की वैसी ही पड़ी हुई थी, कोठरी के आले में दीया उसी तरह टिमटिमा रहा था, और दीपा उसी तरह चारपाई की अदवायन पर बैठा विचारों में डूबा हुआ था—'भागी तेरी ही खातिर मैं वारिस शाह की तुकें ढूंढ़-ढूंढ़कर गाया करता था—वारिस शाह नूं मार न भाग भरिए दिल दिए प्यारिए वास्ताई'**

---

*निष्ठुरों से दिल लगा लिया—चनाव के पार प्रिय का ठिकाना है, वादा किया है, जाना जरूरी है, पर मांझियों से अनबन हो गई है…

**वारिसशाह को मत मार, ऐ भाग-भरी, हिया की प्यारी, विनती मान ले।

पर तूने मेरा वास्ता न माना। जैसे जीवनी मेरे दादा की मढ़ी पर दीया जलाने चल दी, जैसे जमना इस कोठरी में दीया जलाने आ गई…आज तू भी दियासलाई की डिबिया लेकर दीया जलाने आ गई है…"

और थाले में जलते हुए दीये को जब दींपे ने उठकर फूंक मारकर बुझाना चाहा, उसका सांस उसके गले में अटक गया…और दीया जलता रहा…

●●●